ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

30

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
2000

ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

30

सम्पादक

एस० रिनपोछे
निदेशक

जनार्दन पाण्डेय



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४४ कार्तिक पूर्णिमा ख्रीस्ताब्द २०००

३०वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २०००

मूल्य : रु० १२०.००

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

शिवम् प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīḥ

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

30

Editors

S. RINPOCHE
Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2544 KĀRTIKA PŪRṆIMĀ C.E. 2000

Co-Editors

Vol. xxx, 550 copies, 2000

Price : Rs. 120.00

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Shivam Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धीः XXX

विषयानुक्रमणी

•

नित्यानित्यविनिर्मुक्तान् नित्यानित्यप्रभावितान् ।
ये पश्यन्ति सदा बुद्धान् न ते दृष्टिवशं गताः ।।

समुदागमवैयर्थ्यं नित्यानित्ये प्रसज्यते ।
विकल्पबुद्धिवैकल्यान्नित्यानित्यं निवार्यते ।।

(लङ्कावतारसूत्र, 5.1-2)

श्रीलोकेश्वरानन्दसुन्दराष्टकम्

[श्रीलोकेश्वरानन्दसुन्दराष्टकम् और श्रीत्रिरत्नसुन्दरषोडशीस्तोत्रम्, ये दोनों स्तोत्र इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, न्यूयार्क से प्राप्त 'लोकेश्वरगाथासंग्रह' नामक अप्रकाशित पाण्डुलिपि से लिये गये हैं।]

ॐ नमो लोकनाथाय।

अलिकवलितवह्निज्वालमा खर्वकायं
चतुररिकुलकालं नौमि दंष्ट्रातिघोरम् ।
रणितकुलिशघण्टं पाशिनं वीरदेवं
हुहुमितिधृतखड्गं द्वेषवज्रीं सुमीलम् ।। 1 ।।

परिरुजति सुहीरे बोधिजे जीवराजेऽ-
मितरुचिगुरुमूर्त्या स्वप्नमस्यादिशस्त्वम् ।
अपमृतिरिह न स्याच्छायया मेऽनुगच्छे-
त्युपहृतरुजमेवं त्वां नमेऽक्षोभ्यमौलिम् ।। 2 ।।

क्व मुकुटशिवसिंहः स्वप्नमर्त्योपदेशं
जिनसुतवपुरक्षोभ्योत्तमाङ्गं विदित्सुः ।
कनकमयविमानं कल्पयन्तं सखायं
सुबहुवरिवृतीति त्वां नमे जीवराजम् ।। 3 ।।

परिजपति मनुं ते दण्डिभिक्षुर्जयश्रीः
स जयति जितबुद्धान् कोशिजान् वादिराजः।
अभयकुलिशदेवीं प्रत्यपाशस्य योऽसा-
वभिरचयति शास्त्रं त्वां नमे चैकवीरम् ।। 4 ।।

बुध इव मुदमद्रं मञ्जुवाक् मञ्जुशीलो
झटिति करणकारी नामतुल्यार्थधारी ।
भवुकनिजकुलीनः श्लाघविश्रम्भपात्रं
अचर(ल)धृतिरहीनस्वां नमे मञ्जुराजम् ।। 5 ।।

गिरिवरपविकूटे धर्मचक्रं विनीय
क्षितिमुकुटप्रतापं पञ्चविंशल्लिपीभिः ।
कमलधरकथाभिर्वाचयित्वा सुपुस्तं
जपपटमनुलेभे त्वां नमे धर्मराजम् ।। 6 ।।

त्रिभवनृपमनांस्याह्लादयन् बोधिमार्गे
ज्वलनतपनवर्षद्योतनप्रातिहार्यैः ।
तव मनुपरिजापी वीरजो(यो)गांवरेशः
स जयति कुलचन्द्रः सर्वनन्दः सुनन्दः ।। 7 ।।

प्रथितभुवनपीठेषूचितानेकदेव-
स्तदुपचितप्रसादासादितामर्त्यलोकः ।
त्र्यधिकशरदशाश्वो नाम नन्दो जगाम
त्वयि समरसयोगं रोषिजो(यो)गांवरं त्वाम् ।। 8 ।।

स्वस्ति श्रीहीनदीनाशनिविबुधजनो नाथ नाथोरुमूलं
त्रैलोक्ये चामराग्रप्रमुखदिगधिपैर्नित्यसंवाहितांघ्रे ।
आर्यश्रीपद्मपाणे वितर मयि कृपां सुन्दरानन्दकोके
तोके त्वत्पच्छरण्ये नहि भवति दवीयः क्वापि चेदार्यसत्यम् ।। 9 ।।

इत्यार्यावलोकितेश्वरभट्टारकस्यानन्दसुन्दराष्टकं समाप्तम् ।।

•

श्रीत्रिरत्नसुन्दरषोडशीस्तोत्रम्

ॐ नमो रत्नत्रयाय।

हे त्रिरत्नभवदीयपदाब्जं वाञ्छितार्थफलदं प्रभजामि ।
कल्पवृक्षमिव संततजीवि भूर्भुवःस्वरभिधेयमचिन्त्यम् ।।1।।

काशिकेति गणिकां वरभक्त्या यौवतमुमुर आवृतचित्ता ।
त्वां विदेरतिबलं भगवन्तं पौरुषार्थफलदं प्रभजामि ।।2।।

चूडदेव्यतितरां परुषोक्त्या सूर्यराजमहिषी किरिवक्त्रा ।
श्रीवसुन्दरि भवत्कृपयाऽभूद्दिव्ययानगमनाऽस्तु नमस्ते ।।3।।

या उमेति हिमशैलतनूजा त्वत्प्रसादत उमेश्वरबुद्धः ।
प्रत्यपादि च षडक्षरजापाल्लोकनाथमनिशं प्रभजामि ।।4।।

स्तम्बचैत्यसुप्रदक्षिणवत्यः शम्बुका अपि परां गतिमापुः ।
श्रीत्रिरत्नभवतां पदकंजसेवका किमुत देव्यभिधा सा ।।5।।

मातुरद्य गुणसंततिमादौ विस्मरामि सुमनो जिनराज ।
तद् भवत्सु विनिवेदितुकामस्तावदद्य विहितोऽञ्जलिरेषः ।।6।।

चिद्घने महसि ते प्रविलीनां मातरं जिनजनन्यवदेवीम् ।
त्वत्पदाम्बुजगतिं दिश तस्या मां सहाम्बमवताज्जगदम्ब ।।7।।

तत्तदद्य न हि विस्मृतमम्ब यन्ममोद्धृतिकृतौ विदधासि ।
देवि लक्ष्मि जननी मम यत्त्वं प्रातरेव तव नाम जपामि ।।8।।

लूतया विरलतन्तुवितानं यत् पुरा भवति चुह्लिमुखाग्रम् ।
अद्य तन्मम गृहं सवितानं विश्वकर्मसदृशीं प्रभजामि ।।9।।

उत्तमर्णधनदानचितोत्थज्वालयातिविकलं धनसिंहम् ।
अन्यगेहत अरक्षदबाधं उत्तमर्णभयहन्त्रि नमस्ते ।। 10 ।।

धीरपूर्वनृहरिं जनयित्वा धीरतां गतवती स्वयमेव ।
सा त्वमित्थमवधीरय मा मां देहि धैर्यमुद्धर मम मातः ।। 11 ।।

शासने विहितवत्यसि कारामुत्तमर्णकृतचित्तविनोदा ।
रूपगन्धरसवर्णसुसारां त्वां नमामि गुरुवद्रसदात्रीम् ।। 12 ।।

श्रीमुनीन्द्रवचनामृतधारासिक्तपूर्वफलदां कुलदेवीम् ।
श्रद्धयार्चितवती विधिपूर्वं तत्तद्...य समुचेति दक्षा ।। 13 ।।

श्रीसुवर्णप्रभया सहपञ्चरक्षया पिपठिषुर्जननी त्वम् ।
धर्मकर्मनिवृता सुभगासि श्रीमुनीन्द्रदयितेऽवचिनोमि ।। 14 ।।

नृत्यगीतविविधागमशिल्पशिक्षया परिणतं हितचित्त- ।
मागतासि जननीपदमेव त्वां च मामवतु शाक्यमुनीन्द्रः ।। 15 ।।

त्वत्कृतेऽन्नमपि दातुमशक्तः कस्यचिद् विषयलुप्तधृतित्वात् ।
तज्जनस्य परितोषय चित्तं प्रातरेव तव नाम जपामि ।। 16 ।।

आर्यतारिणि वसुन्धरि देवि लक्ष्मि[श्री]वज्रिणि कुलेश्वरि मातः ।
लोकनाथ भगवन् मम देहि जन्मजन्म भगवत्पदभक्तिम् ।। 17 ।।

इत्थमेव भवतां नवनुत्या श्रीत्रिरत्नपदपङ्कजभक्त्या ।
सुन्दरोक्तप्रणिधानसुयुक्त्या बोभवीतु सुखितोऽखिललोकः ।। 18 ।।

इति श्रीत्रिरत्नसुन्दरषोडशी समाप्ता ।।

•

चित्तविवेक एवं कर्मान्तविभाग

—जनार्दन पाण्डेय—

[विगत अंकों में आचार्य आर्यदेव-प्रणीत चर्यामेलापकप्रदीप के 3 परिच्छेदों का विवरण संक्षेप में दिया जा चुका है। प्रस्तुत अंक में चतुर्थ परिच्छेद चित्तविवेक (मुद्रातत्त्व) तथा पञ्चम परिच्छेद कर्मान्तविभाग का हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है।]

चित्तविवेक

वज्रशिष्य—आपकी कृपा से वायुतत्त्वानुपूर्वीक मन्त्रतत्त्व और वाग्विवेक विषयक संशय दूर हुआ, अब चित्तविवेक की शिक्षा ग्रहण करने की कामनावाला व्यक्ति कैसे शिक्षा ग्रहण करे, शास्ता यह बताने की अनुकम्पा करें।

वज्रगुरु—हे महासत्त्व! सर्वतथागत सम्प्रदाय से बहिर्मुख व्यक्तियों के लिए जो ज्ञेय नहीं है, ऐसा अत्यन्त कठिन और केवल बुद्ध ही जिसे जानते हैं, ऐसा अति गम्भीर प्रश्न तुमने पूछा है। भगवान् ने सर्वत्र देशनापाठ में कहा है कि ''चित्त का स्वभाव अमूल, अप्रतिष्ठित, अनालय, अलिङ्ग, अवर्ण, असंस्थान, अतीन्द्रिय और तर्कों का अविषय होता है'', इसलिए वज्रयान का आश्रय लेकर बुद्धत्व की कामना से योग्य कल्याणमित्र की आराधना करके अपने चित्तस्वभाव का अन्वेषण करना चाहिए। जैसा कि भगवान् ने **तत्त्वसंग्रहतन्त्र** में कहा है—

'हे कुलपुत्र! अपने चित्त के प्रत्यवेक्षण से समाधान प्राप्त करो'। (त० सं०, पृ० 4) और **वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र** में भी कहा है—'स्वचित्त का वास्तविक ज्ञान ही बोधि है'। **पिटकत्रयनय** में भी कहा है—'दूरंगम, एकाकी, अशरीर और गुह्य स्थान में रहनेवाले चित्त को जो समझ लेते हैं, वे मार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।' इसलिए मायोपम-समाधि का साक्षात्कार करना हो तो सर्वतथागत सम्प्रदाय को प्राप्त वज्रगुरु की सेवा करके **ज्ञानवज्रसमुच्चयादि व्याख्यातन्त्रों** के अनुसार प्रकृत्याभास विज्ञानत्रय को जानना चाहिए। जैसा कि **लङ्कावतारसूत्र** में कहा है—

''हे महामते! स्वचित्त के ग्राह्य-ग्राहक विकल्प के विषय को जानने की इच्छावाले बोधिसत्त्व को सामूहिकसंसर्ग, आलस्य और मल से रहित होना चाहिए''।

(लं० सू०, पृ० 22)

यहाँ सकलपदार्थ विज्ञानत्रय के हेतु हैं। अथवा स्वर्ग-अपवर्ग, स्थावर-जंगम, ग्राह्य-ग्राहक, द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद, शुभाशुभविकल्प, आलोक-अन्धकार, स्त्री-पुं-नपुंसकादि आकार, उत्पत्ति स्थिति प्रलय, संक्षेप से त्रिधातुक इन्द्रिय प्रविचय गोचर विज्ञानत्रय होता है। जैसाकि **भद्रपालिपरिपृच्छासूत्र** में भगवान् ने कहा है—

''हे भद्रपाले! जो यन्त्र कर्म की अधिकता से प्रवृत्त होता है, वह कर्म अनुरूपी (अरूपी?) विज्ञान ही से निवृत्त होता है, इसी प्रकार शरीरयन्त्र विज्ञान की अधिकता से प्रवृत्त होता है। यह विज्ञानधातु विचित्र आश्चर्यकारक रूप से प्रवृत्त होता है। यह विज्ञानधातु कारक है, क्योंकि शरीर को उत्पन्न करता है। यह विज्ञानधातु अक्षय है, क्योंकि धर्मधातु का निषेवण करता है। यह विज्ञानधातु बुद्धिसम्पन्न है, क्योंकि इसे अपने पूर्व शरीरों की अनुस्मृति रहती है। इस विज्ञानधातु को सूर्य की किरणों जैसा समझना चाहिए, जैसे सूर्य की किरणें अपवित्र, दुर्गन्धयुक्त पदार्थों पर भी पड़ती हैं और सुगन्धित कमल आदि पर भी, किन्तु उनमें न तो दुर्गन्ध का आश्लेष होता है न सुगन्ध का। इसी प्रकार यह विज्ञानधातु भी विष्टा, कूड़ा आदि अभक्ष्य पदार्थों को खाने वाले श्वान-शूकर आदि योनियों में भी रहता है, किन्तु उनके दोषों से लिप्त नहीं होता।

तब महौषधि भगवान् के चरणों में गिरकर बोला—भगवन्! यह विज्ञान शरीर से किस रूप में पृथक् होता है? भगवान् ने कहा—महौषधि! तुमने अच्छा प्रश्न किया है। यह परमगम्भीर प्रश्न है। मैं तुम्हें समझाता हूँ। इस विज्ञान का निर्देश देनेवाला तथागत के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।

तब भद्रपालि ने भगवान् से कहा—भगवन्! यह महौषधि राजकुमार बड़े गम्भीर प्रश्न पूछने में कुशल तथा तीक्ष्णबुद्धि भी है। भगवान् ने कहा—हाँ, यह ऐसा ही है, क्योंकि इसे यह कुशलता भगवान् विपश्यी से मिली है। भद्रपाले! यह महौषधि राजकुमार पाँच सौ जन्मों तक परतीर्थिक रहा और प्रत्येक जन्म में यही पूछता रहा कि विज्ञानधातु क्या है? कौन है? और कैसा है? किन्तु इसे इस विज्ञानधातु की गति-आगति का ज्ञान नहीं हुआ। मैं इसके संशय को दूर करूँगा।

विज्ञान क्या है? बीज से शरीरांकुर की अभिनिर्वृत्ति होती है और विज्ञान वेदना की स्मृति को प्राप्त करता है, इसलिए बीज को विज्ञान का विज्ञान कहा जाता है। जैसे—बेर, खजूर, आमड़ा, बेल, दाड़िम, कपित्थ आदि फलों के भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वाद होते हैं। प्रत्येक का अपना-अपना कटु, तिक्त, मधुर, अम्ल, लवण, कषाय आदि

रसवीर्य विपाक होता है। कोई कड़वा होता है, कोई मीठा आदि। अनन्त फल होते हैं और उनका जैसा बीज होता है, उसी का गुण उनमें आता है। इसी प्रकार यह विज्ञानधातु जिस-जिस में संक्रमित होता है उस-उस में वेदना का भी संक्रमण होता है। पुण्य-अपुण्य का और स्मृति का भी संक्रमण होता है। यह विज्ञानधातु इस शरीर को छोड़ने पर भी जानता है कि यह मेरा शरीर है, जिसे मैंने छोड़ दिया है। इसीलिए इसे विज्ञानधातु कहते हैं। यह कुशल कर्म को भी जानता है और अकुशल कर्म को भी। यह भी जानता है कि ये कर्म मुझसे संबद्ध हैं और मैं इनसे संबद्ध हूँ। इसीलिए यह विज्ञान कहलाता है। फिर यह शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का ज्ञान कराता है। अत: इसे विज्ञान कहते हैं। इस शरीर में विज्ञान का कोई निश्चित स्थान नहीं है और न विज्ञान के विना शरीर रह सकता है। इसलिए हे भद्रपाले! सुनो, अदृष्टसत्य को यह विज्ञान नहीं देखता।''

इस प्रकार विज्ञान को **महायानसूत्र** में अवर्ण, अलिङ्ग, असंस्थानात्मक, स्वसंवित्तिज्ञानमात्रक कहा गया है और **श्रीसमाजमहायोगतन्त्र** में कहा है कि गङ्गानदी के बालूकणों की संख्या के समान कल्पों तक भी स्वचित्त का वास्तविक परिज्ञान नहीं हो सकता, इसीलिए संवृतिसत्य को देख नहीं पाते। **श्रीज्ञानवज्रसमुच्चयमहायोगतन्त्र** के अनुसार गुरुचरणों की कृपा से विज्ञानत्रय का ज्ञान करना चाहिए। इसी तन्त्र से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

''महासत्त्व बोधिसत्त्व भगवान् के चरणों में गिरकर प्रणाम करते हुए फिर पूछने लगे—हे शास्ता! इस विज्ञानत्रय को समझना बहुत कठिन है अत: आप इसके भेदों को स्पष्ट रूप से समझा दें। तब भगवान् ने कहा—जो प्रभास्वर से उत्पन्न विज्ञान है, वही चित्त या मन है। संक्लेश-व्यवदानात्मक सभी धर्मों की जड़ वही है। उसी से स्व और पर यह दो प्रकार की कल्पना उत्पन्न होती है। उस विज्ञान का संचालन वायु द्वारा होता है। वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से पञ्चस्कन्ध, षडायतन, पञ्चविषय ये सब वायुविज्ञान से संबद्ध होते हैं। उन्हीं से विज्ञानत्रय के प्रकृत्याभास प्रचार का स्पष्टरूप से अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि ये सारी प्रकृतियाँ आभासहेतुक होती हैं।''

इन उद्देशपदों का विस्तार से निर्देश बताते हैं—पहले विज्ञानत्रय के पर्याय बताते हैं—भगवान् ने प्रज्ञोपायम् कहकर नपुंसकपदसंकेत से सन्ध्यावचन द्वारा इसकी संज्ञा को व्यक्त किया है और फिर अव्यक्त और उपलब्धज्ञान, फिर चित्त मन और विज्ञान, फिर परतन्त्र, परिकल्पित और परिनिष्पन्न तथा राग-द्वेष-मोह इस प्रकार त्रिस्वभाव आदि पर्यायों को महायानिक जन मानते हैं।

वज्रयान में इसके पर्याय इस प्रकार हैं—आलोक, आलोकाभास और आलोकोपलब्धि; शून्य, अतिशून्य और महाशून्य; चित्त, चैतसिक और अविद्या; राग, विराग और महाराग। इस प्रकार चित्त के पर्यायों का निर्देश करके अब स्वलक्षण प्रत्यात्मवेद्य स्वभाव का वाग्विवेक को आश्रय मानकर बताते हैं। भगवान् ने कहा है—चित्त वर्णसंस्थानादिरहित आकाश की तरह है। फिर उसी की व्याख्या कर उन्होंने कहा है—आभास लक्षण से और अनुभव लक्षण से उसे जानना या समझना चाहिए। उसी को यहाँ उद्धृत करते हैं—

"जबकि पहिले आभास होता है फिर प्रकृति, वहाँ आलोक, आलोकाभास और आलोकोपलब्धि, ये तीनों गृहीत हैं। आलोक का लक्षण निराकार स्वरूप है, काय-वाक् नहीं। जैसे शरत्काल में निर्मल चन्द्रकिरणों से व्याप्त स्वच्छ स्वभावाकार सम्पूर्ण पदार्थों का आलम्बन होने से आलोक कहलाता है। यही पारमार्थिक बोधिचित्त प्रज्ञास्वभाव प्रथम शून्य है।

'अं' इस वाग्द्वाराश्रय बीज को दृढ़ करने के लिए अल्पाधिमुक्तिक जीव तथागत के उन सन्ध्यावचनों को नहीं समझ पाते, वे चन्द्रमण्डल के रूप में उसका आश्रय ग्रहण करते हैं। पद्म, स्त्री, वामा, रात्रि आदि संज्ञाओं से इस चित्त का मृदुभाव संवृतिरूप से ग्रहण किया जाता है।

आलोकाभास का लक्षण क्या है? वह भी ग्राह्य-ग्राहक रहित निराकारस्वरूप काय-वाक् नहीं है। जैसे शरत्काल में सूर्यकिरणों की प्रतीति अत्यन्त स्वच्छ अतिनिर्मल स्वभाववाली होती है। सकल पदार्थों का आलम्बन यह समन्तभद्र बोधिचित्त द्वितीय अतिशून्य का लक्षण है।

'अः' इस वाग्द्वाराश्रय बीज को दृढ़ करने के लिए अल्पाधिमुक्तिक सत्त्व तथागत के सन्ध्यावचन का अभिप्राय नहीं समझते, वे सूर्यमण्डल रूप का आश्रय लेते हैं। वज्रपंचसूचिक, रत्न, पुरुषरूप, दक्षिणसंज्ञा या तीक्ष्णाकृति ये चैतसिक के संवृतिरूप हैं।

आलोकोपलब्ध क्या है? उसी प्रकार आकाशलक्षण निराकार स्वरूप काय-वाक् नहीं। जैसे सन्ध्यान्तकाल स्वभाव से रहित सूक्ष्म निरालम्बक तत्त्व में प्राणायाम नहीं होता। निश्चेतन, निश्चल 'न' वाग्बीजाक्षर के आश्रय में परिनिष्पन्न कहलाता है। यह विज्ञान तीन प्रकार का होता है—आलोकोपलब्ध, अविद्या और अक्षय महाशून्य।

इस प्रकार शून्यत्रयलक्षण सर्वबुद्धोपदेश का प्रतिपादन करके अब एक-एक ज्ञानोदय में प्रकृति का स्फुरण कैसे होता है, इसकी व्यवस्था बताते हैं—

प्रज्ञाज्ञान की प्रकृति के ये 33 क्षण हैं—विराग, मध्यमविराग, अतिविराग, मनोगत शोक, मध्यमशोक, अतिशोक, सौम्य, विकल्प, भीत, मध्यमभीत, अतिभीत, तृष्णा, मध्यमतृष्णा, अतितृष्णा, उपादान, निःशुभ, क्षुत्, तृषा, वेदना, समवेदना, अतिवेदना, विद, वित्, धारणापद, प्रत्यवेक्षण, लज्जा, कारुण्य, स्नेह, मध्यमस्नेह, अतिस्नेह, साश्चर्य (ससंशय), सञ्चय और मात्सर्य।

उपायज्ञान के ये 40 क्षण हैं—राग, रक्त, तुष्ट, मध्यमतुष्ट, अतितुष्ट, हर्षण, प्रामोद्य, विस्मय, हसित, ह्लाद, आलिङ्गन, चुम्बन, चूषण, धैर्य, वीर्य, मान, करण, हरण, बल, उत्साह, साहस, मध्यमसाहस, उत्तम साहस, रौद्र, विलास, वैर, शुभ, वाक्स्पष्टता, सत्य, असत्य, निश्चय, निरुपादान, दातृत्व, चोदन, शौर्य, अलज्जा, धूर्तत्व, दुष्टता, हठ और कुटिलता।

आलोकोपलब्ध ज्ञान के ये 7 क्षण हैं—मध्यमराग, विस्मृति, भ्रान्ति, तूष्णीं (चुप रहना), खेद, आलस्य और धन्धत्व।

ये प्रकृतियों के 80 क्षण होते हैं और ये साक्षात् या भिन्न-भिन्न रूप में प्रत्येक में रहती हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष भेद से ये 80 × 2 = 160 होती हैं।

वज्रशिष्य—यह 80 प्रकार का चित्त प्रत्येक प्राणी स्व-पर प्रत्यात्मवेद्य होकर अहर्निश संचरण करता है। यह ठीक है, किन्तु इसमें शास्त्रीय प्रमाण क्या है? इसका भी भगवान् शास्ता निर्देश करें—

वज्रगुरु—भगवान् ने 'मन्त्र' शब्द की निरुक्ति करते समय ही इसे **समाजोत्तर** में स्पष्ट कर दिया है—

"इन्द्रियों और विषयों की अपेक्षा से जो मन उत्पन्न होता है, वह 80 प्रकार का है, उसके साथ जो त्र-कार लगा है, वह उसकी रक्षा के लिए है।" (गु॰स॰ 18.69-70)

ये ही 80 बिम्ब प्रकृतियाँ 98 क्लेशों में बदल जाती हैं और फिर 62 दृष्टि प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

वज्रशिष्य—भगवन् प्रज्ञाज्ञान चन्द्रमा के आलोक की तरह शून्यमात्र है। उपायज्ञान भी सूर्यालोक की तरह अतिशून्य मात्र है। उसी प्रकार आलोकोपलब्ध ज्ञान भी अन्धकार की तरह महाशून्य मात्र है। तब तो यह विज्ञानत्रय आकाशलक्षण निराकारस्वरूप व्याप्त और गमनागमन रहित हुआ, फिर यह रात दिन स्वकाय में स्फरण और संहरण कैसे करता है? वह कौन है जो जाग्रत रहता है? वह कौन है जो निश्चिन्त

(सुप्त) रहता है? राग, विराग, मध्यमरागादि 160 प्रकृतियों का अनुभव किसके साथ होता है? इसके कारण का निर्देश करने की कृपा करें।

वज्रगुरु—यद्यपि विज्ञानत्रय अमूल, अप्रतिष्ठित, अनालय, अलिङ्ग, अवर्ण, असंस्थान और अतीन्द्रिय है, किन्तु साभास वायुधातु सहित होने से अनुमान गम्य है, वैसे ही विज्ञानाभास भी अरूपी है, किन्तु राग, विराग, मध्यरागादि प्रकृतियों से उसका अनुमान हो जाता है। जैसा कि **विज्ञानसंक्रान्तिसूत्र** में कहा है—

"हे भद्रपाले! जैसे वायु धातु अरूपी होने पर भी अदृश्य उपादानों से रूपी दिखाई देता है, दिखाई देने का अर्थ है—वृक्षों का हिलना-डुलना, वेग, तटतटादि शब्द करना, शीत-उष्ण का अनुभव कराना आदि। इस वायु के हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि होते नहीं, न यह काला, गोरा या अन्य किसी वर्ण का होता है, इसी प्रकार यह विज्ञानधातु भी रूप से नहीं दीखता और न रूपावभास को प्राप्त करता है, फिर भी किन्हीं विशेष कारणों से इस विज्ञानधातु की प्रतीति अवश्य होती है। इसी न्याय से यह सूक्ष्मधातु और विज्ञानाभास अरूप होने पर भी जैसे घी में डाला हुआ घी मिलकर एक हो जाता है, वैसे ही एक होकर सम्पूर्ण लौकिक और लोकोत्तर कृत्यों का सम्पादन करता है। जैसाकि **अनुत्तरसन्धि** में कहा है—

"यद्यपि ज्ञान संवित्ति मात्र है और आकाशवत् अलक्षण है, किन्तु फिर भी सन्ध्या, रात्रि, दिन आदि रूप में उसके भेद होते हैं।

यह तीन प्रकार का है—आलोक, आलोकाभास और आलोकोपलब्धि और चित्त को इसका आधार कहा गया है।

यह ज्ञान सूक्ष्मरूप से वायु में मिल जाता है और फिर इन्द्रिय मार्गों से निकलकर विषयों का आश्रय लेता है।

इस विज्ञानाभास से युक्त वायु जब इसका वाहन बन जाता है, तब उसकी सारी प्रकृति अस्त-व्यस्त हो जाती है और वह वायु जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसे ले जाता है।" (अ० सं०, श्लोक 30-34)

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए **सन्ध्यावचन** में कहा है—

"झटिति ज्ञानसंभूतं खद्योतकाकारं दशदिग्व्यापिनं ज्वलन्तम्"।

इसका तात्पर्य है—झटिति ज्ञानसंभूतं=क्षण, लव, मुहूर्त, निमिष, ताल, मात्रा की प्रतीति। खद्योतकाकारं (खम् आकाशं (शून्यं) द्योतयति प्रकाशयतीति खद्योतं तदेव)

खद्योतकम्=प्रकाशस्वरूप। दशदिग्व्यापिनं=दशों दिशाओं में व्याप्त। ज्वलन्तं=दीप्तिमान् आलोकत्रयाभास। यहाँ खद्योत शब्द से खद्योत नामक क्षुद्रप्राणी (जुगनूं) से तात्पर्य नहीं है। अत: सूक्ष्मधातु प्रवेश से क्षण लव मुहूर्त ताल मात्रा आदि का आभास होता है और उससे इन्हीं क्षण लव आदि की प्रकृति का अनुभव होता है। निश्चिन्त क्या है? अविद्या। ये सब अविद्या ही हैं, इसीलिए वायुधातुमूलक ये स्व-पर प्रकृतियाँ परस्पर एक-दूसरे के अनुगत होकर अस्त-व्यस्त-समस्त रूप से अनुभव की जाती हैं। इस प्रकार प्रकृत्याभास वायुवाहन भेद को जानने वाला महायोगी सब प्राणियों के चित्तगत स्पन्दन करते हुए भूत, भविष्य और वर्तमान चरित्रों को जानता है। जैसा कि **किन्नरराजपरिपृच्छासूत्र** में भगवान् ने कहा है—

"क्योंकि सम्यक्सम्बुद्ध असङ्गज्ञान से संयुक्त होता है, वह किसलिए? हे कुलपुत्र! तथागत समस्त प्राणियों की भूतकालीन, क्षीण, निरुद्ध, विगत, विपरिणत सम्पूर्ण चित्त-धाराओं को जानते हैं। जिन कारणों से वे चित्तधाराएँ उत्पन्न हुईं, जिन कारणों के अभाव से वे क्षीण हुईं, साकार, सोद्देश, कुशल, अकुशल, व्याकृत या अव्याकृत हुईं, उन सबको भी तथागत जानते हैं। जिस चित्त के बाद जो चित्त उत्पन्न होता है, वह कुशल है या अकुशल, व्याकृत है या अव्याकृत, साकार सोद्देश सनिदर्शन है या नहीं, उसे तथा सब सत्त्वों की जो चित्तधाराएँ सनिर्देश तथा सहेतुक हैं, उन्हें भी तथागत जानते हैं। जो सत्त्वों के चैतसिक धर्म हैं, उनका भी उन्हें ज्ञान है। इस प्रकार असङ्गज्ञान समन्वागत कुलपुत्र अर्हन् ही सम्यक्सम्बुद्ध हैं।"

इससे स्पष्ट है कि चित्तवज्रसमाधिस्थ ज्ञानी प्रणिधायक, प्रणिधेय, प्रणिधान आदि बाह्य विचित्र भावाभिनिवेश को छोड़कर स्वाधिष्ठानक्रम की ओर अभिमुख होता है। जैसाकि **मूलतन्त्र** में कहा है—"हे कुलपुत्र! स्वचित्त प्रत्यवेक्षण को समाधानपूर्वक प्राप्त करो।" (त० सं०, प्र० प०, पृ० 4)

इस प्रकार व्याख्यातन्त्र का आश्रय लेकर प्रकृत्याभासानुसार स्वचित्त का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर कर्मवादी प्राणी इस अनादि संसार में अपने ही विकल्पों द्वारा उत्पन्न किये क्लेशकर्मों के कारण रेशम के कीड़े की तरह स्वयं अपने ही बनाये हुए जाल में उलझ कर दु:खों को भोगते हुए जन्म-परम्परा से बढ़ाये गये शुभाशुभ कर्मों के फलविपाक का अनुभव करते हैं और परमार्थमण्डलक्रम से इस शरीर को छोड़कर वायुधातु से जुड़ा, तृष्णा से अनुबद्ध, धर्मधातु की निष्पत्ति के कारण पूर्व स्मृतियों से जकड़ा, कुशल-अकुशल कर्मों को प्रारम्भ करने में लगा, 5-6 वर्ष के बालक की तरह सबकुछ देखता हुआ, अनुभव करता हुआ, वज्र से भी अभेद्य, सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कर्मों की ओर

वेग से बढ़ता हुआ कुछ समय रुककर स्वविकल्पों से उत्पन्न शुभाशुभ कर्मों से प्रेरित हेतु-प्रत्ययों को प्राप्त कर [1]घटीयन्त्र न्याय से पुनः-पुनः [2]पञ्चगतियों में प्रतिसन्धि को प्राप्त करता हुआ सांसारिक दुःखों का अनुभव करता है।

कर्मान्तविभाग

वज्रशिष्य—भगवन्! मैं विज्ञान की विचित्रता के विषय में कुछ और भी पूछना चाहता हूँ। यदि यह विज्ञानत्रय प्रकृत्याभास अरूपी है, वायुधातु भी अरूपी है और कर्म भी अरूपी है तो इन सबके जानने या न जानने से शून्यत्व ही हाथ लगेगा, ऐसा भगवान् ने देशनापाठ में कहा है। तब शुभाशुभ कर्मों के इस अनादि भवचक्र में मनोमय शरीर बद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार 160 प्रकृतियों से कुशल-अकुशल कर्मों से वृद्धि को प्राप्त हुआ इसी लोक में प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में नष्ट हो जायेगा। तब वह परलोक में जाकर उन शुभाशुभ कर्मों का फलभोग कैसे करेगा। वहां वह जिन कर्मों का भोग करेगा, वे कहीं अन्यत्र से आयेंगे या स्वचित्त की वासना से उत्पन्न होंगे? मेरी इस जिज्ञासा को शान्त कर अनुगृहीत करें।

वज्रगुरु—हे महासत्त्व! कर्मविशुद्धि का जानना बड़ा गम्भीर विषय है, जिसे केवल बुद्ध ही जानते हैं। हे कुलपुत्र! इसे आदिकर्मवादी नहीं समझ सकते। अतः सुनो मैं तुम्हें युक्ति और आगम द्वारा समझाता हूँ। पहिले शुभ-अशुभ कर्मों के लक्षण जानने चाहिए। इनमें दस कुशलकर्म मार्ग हैं और इसके विपरीत दस अकुशलकर्म मार्ग। ये सब

---

1. **घटीयतन्त्र**—प्राचीनकाल में समय को जानने के लिए शंकु, घटी आदि का प्रयोग किया जाता था। इसमें घटीयन्त्र प्रमुख था। यह ताँबे का एक कटोरीनुमा पात्र होता था, जिसके पेंदे पर एक छेद किया जाता था। इसे एक जल से भरे बड़े पात्र में रखते ही उस छेद से पानी पात्र में आना प्रारम्भ हो जाता था और ठीक 60 पल (1 घड़ी=वर्तमान 24 मिनट) में वह पात्र भरकर डूब जाता था। एक व्यक्ति जो उसके निरीक्षण के लिये नियुक्त रहता था। तुरन्त उसे निकालकर पुनः जल पर रख देता था। इस प्रकार वह जितनी बार डूबता उतनी घड़ी बीत गई यह माना जाता था। इस पात्र को तथा इसके पेंदे के छिद्र को एक निश्चित प्रमाण से कुशल कारीगर ही बना पाता था, जिसमें एक क्षण की भी त्रुटि नहीं होती थी।
जैसे यह घटीयन्त्र बार-बार डूबता है और पुनः ऊपर रखा जाता है, उसी प्रकार प्राणी भी बार-बार मरते और जीते हैं। यह अभिप्राय है। वर्तमान में प्रचलित घड़ियों में भी 1.2.3 से 12 तक बजने के बाद पुनः 1.2 आदि बजने का क्रम भी इसका उदाहरण हो सकता है। लौकिक न्याय साहस्री में कूपघटीयन्त्र नाम से भी एक यन्त्र दिया है, किन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं सिद्ध होता।
2. **पञ्चगतियाँ**—1. देव, 2. मनुष्य, 3. तिर्यक्, 4. प्रेत और 5. नरक (यमलोक)। (द्र०-विमलकीर्ति-निर्देशसूत्र, पृ० 196)

काय-वाक्-चित्त से उत्पन्न होते हैं, ऐसा भगवान् ने **वज्रोष्णीषतन्त्र** में कहा है। वही यहाँ उद्धृत करते हैं— "भगवान् ने कहा—हे गुह्यकाधिपते! सुनो, तीन प्रकार का कायदुश्चरित होता है, चार प्रकार का वाग्दुश्चरित और तीन ही प्रकार का चित्तदुश्चरित होता है। जिनके कारण प्राणी नरक में जाता है।

वज्रपाणि ने कहा—हे भगवन्! सुगत! मुझे इन काय-वाक्-चित्त दुश्चरितों की परिभाषा स्पष्ट रूप से बताने की कृपा करें।

तब भगवान् ने कहा—हे गुह्यकाधिपते! ये दुश्चरित दो प्रकार के होते हैं—गुरु (विशेष) और सामान्य। जैसे—माता, पिता, गुरु आदि श्रेष्ठजनों की प्रताड़ना या मारना विशेष कायदुश्चरित है और प्राणातिपातादि अकुशल कर्म सामान्य कायदुश्चरित है। वाग्दुश्चरित दो प्रकार का है—सद्धर्म का प्रतिक्षेप करना तथा परुषवचनों का प्रयोग। इसमें माता-पिता आदि गुरुजनों के प्रति परुषवचनों का प्रयोग तथा सद्धर्म में श्रद्धालु और कुशल कर्म करने वाले व्यक्तियों से कथाप्रसङ्गों में परलोक आदि सब झूठ है, पाप-पुण्य कुछ नहीं होता। इस प्रकार कहकर उनके कुशल कर्मों में विघ्न करना विशेष वाग्दुश्चरित है और संभिन्नप्रलाप अर्थात् परुषतापूर्वक अकुशल कर्मों की मृषा व्याख्या करना सामान्य वाग्दुश्चरित है। चित्तदुश्चरित में स्त्यान विशेष दुश्चरित है, सामान्य चित्तदुश्चरित है चित्त से उद्भूत अविद्या।

वज्रपाणि ने कहा—भगवन् चित्त चैतसिक और अविद्या जनित दुश्चरितों को स्पष्ट रूप में समझा दीजिए।

भगवान् ने कहा—सुनो, जब चित्त में किसी प्रकार का विघात होता है या आलस्य के कारण दश कुशल कर्म करने में विरक्ति होती है, वही चित्तदुश्चरित कहलाता है। मद, दर्प, अहंकार, क्रोध, सत्त्व की क्षति (अकर्मण्यता), राग, परदारासक्ति, परद्रव्यापहरण, गुरुजनों के प्रति कुटिलता ये विशेष चित्तदुश्चरित हैं। दश कुशल कर्मों, षट्पारमिताओं की विक्षिप्ति, विस्मृति या द्वन्द्वाङ्कितता (करें न करें, ऐसी विकल्प स्थिति), मन के अज्ञान के कारण हुई चैतसिक सामान्य दुश्चरित है। इस प्रकार अज्ञानी काय-वाक्-चित्त के सुचरित या दुश्चरित को अपने प्रकृत्याभास वायुवाहन स्वभाव को न जानने से मेरा काय, मेरी वाक्, मेरा चित्त इस अहंकार-ममकार के कारण शुभाशुभ कर्म करके सुगति या दुर्गति को भोगता है। प्रकृत्याभासक्रम से चित्तविवेक को जानता हुआ ज्ञानी काय-वाक्-चित्त के सुचरित या दुश्चरित को न तो मानता है, न उसे किसी प्रकार का विकल्प होता है। इसलिए उसकी शून्यत्रय से उत्पन्न होनेवाली ये शुभाशुभ प्रकृतियाँ

वायुवाहनवशात् क्षणक्षण में उत्पन्न होकर विषयों का अनुभव करती हुई पुनः प्रभास्वर में लीन होती जाती हैं। जैसा कि **अनुत्तरसन्धि** में कहा है—

"जैसे अनेक प्रकार के रंगों और आकारों वाले बादल आकाश में उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार आभासत्रय से उत्पन्न होनेवाली ये सभी प्रकृतियाँ सम्पूर्ण विषयों को भोगकर उसी प्रभास्वर में प्रवेश कर जाती हैं। विज्ञान के इस स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानी शुभ-अशुभ कर्म करते हुए संसारचक्र में घूमते रहते हैं और पापों के फलस्वरूप नरकों में यातना पाते हैं तथा दानादि शुभ कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गसुख का भी भोग करते हैं। अनन्त काल तक हजारों बार जन्म-मरण का अनुभव करते हुए, यह हमारे पूर्व कर्मों का फल है, ऐसा ही सोचते रहते हैं। इनमें से जो प्रकृत्याभासविधि से विज्ञान को समझ जाते हैं, वे ज्ञानी इस भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।"

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान् **किन्नराजपरिपृच्छासूत्र** में कहते हैं—

"जैसे चित्तचर्याएँ असंस्कृत और अरूपी होती हैं, उसी प्रकार वायु भी चित्तप्रकृति को जानकर विशुद्ध करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि क्लेशों के कारण यह संभव नहीं हो पाता।"

इस प्रकार चित्तविवेक को अधिगत किया हुआ महायोगी शुभ या अशुभ कर्मफलों की अपेक्षा न करता हुआ मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। जैसा कि भगवान् ने **वज्रच्छेदिका** में कहा है—

"धर्मों को ही पहिले छोड़ देना चाहिए, अधर्मों की अपेक्षा"। (व० छे०, पृ० 31)

गुह्यसमाजमहायोगतन्त्र में भी कहा है—

"कुछ लोग दश कुशल मार्गों का अनुसरण तो करते हैं, किन्तु पूर्णज्ञान न होने से विधिवत् नहीं करते।" (गु० स० 17.15) अर्थात् योग्य कल्याणमित्र के न मिलने से उन्हें स्वचित्त का पूर्णज्ञान नहीं रहता, अतः वे अहंकार-ममकार में पड़े हुए तुच्छ और व्यर्थ मनमाने शुभाशुभ कर्म करके कल्पों तक अनादि संसार में भ्रमण करते दुःख भोगते हैं। जैसा कि भगवान् ने **आर्याष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता** के **कल्याणमित्रपरिवर्त** में कहा है—

"सुभूति ने पूछा—भगवन्, यदि सभी धर्म विविक्त हैं, शून्य हैं तो सब सत्त्वों को संक्लेश क्यों होता है? व्यवदान क्यों होता है? भगवन्! यह संक्लेश या व्यवदान सब सत्त्वों

को विविक्त नहीं होता। न शून्य से संक्लेश होता है, न व्यवदान। इस विविक्त या शून्य से अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि का बोध नहीं होता। अन्यत्र भी शून्यता से सब धर्मों की उपलब्धि नहीं होती। जो अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि को प्राप्त कर चुका है, या कर रहा है, या करनेवाला है, उसे हम आपके इन वाक्यों से कैसे जान सकते हैं? अतः भगवन्, इसे स्पष्ट रूप से निर्देशित करें।

यह सुनकर भगवान् ने आयुष्मान् सुभूति से कहा—

'भगवान्—हे सुभूते! तुम क्या समझते हो कि सत्त्व दीर्घकाल तक अहंकार-ममकार में ही विचरण करते हैं?

सुभूति—हाँ भगवन्! दीर्घकाल तक सत्त्व अहंकार-ममकार में ही विचरण करते हैं।

भगवान्—तो सुभूते! तुम क्या समझते हो कि अहंकार-ममकार शून्य है?

सुभूति—हाँ भगवन् सुगत! ये निश्चय ही शून्य हैं।

भगवान्—तो सुभूते! तुम क्या समझते हो कि अहंकार-ममकार के कारण ही सत्त्व पुनः-पुनः इस संसार में आते-जाते हैं?

सुभूति—अवश्य ही, भगवन् अहंकार-ममकार के कारण सत्त्वों का जन्म-मरण होता रहता है।

तब भगवान् ने कहा—"हे सुभूते! इसीलिए सत्त्वों को संक्लेश उत्पन्न होता है और व्यवदान होता है।" (अ० सा०, पृ० 190) तथा **सर्वकर्मावरणविशुद्धिसूत्र** में भी कहा है—

"भगवान्—हे भिक्षो! तुम क्या समझते हो कि अनुत्पाद भी उत्पन्न होता है या उसका भी निरोध हो सकता है या उसका भी संक्लेश, व्यवदान हो सकता है?

भिक्षु—नहीं भगवन्।

भगवान्—भिक्षो! तुम क्या समझते हो कि जो धर्म उत्पन्न ही नहीं हुए उनसे नरक में, या तिर्यक्योनि में, या यमलोक में जाया जाता है?

भिक्षु—नहीं भगवन्! जो उत्पन्न ही नहीं हुए उनसे दुर्गति कैसे हो सकती है।

भगवान्—हे भिक्षो! इसीलिए तो सारे धर्म प्रभास्वर हैं। मूर्खलोग जो उत्पन्न ही नहीं हुए व्यर्थ उनकी कल्पना करके रिक्त, तुच्छ, शून्य मानकर नरक में, तिर्यक्योनि में या

यमलोक में जाते हैं। इसीलिए भिक्षुओ! मैंने आदेश दिया है कि चित्त के संक्लेश से सत्त्व क्लेश पाते हैं और चित्त की विशुद्धि से शुद्ध (मुक्त) हो जाते हैं।''

तथागतकोषसूत्र में भी कहा है—

''सभी धर्म स्वभावत: शुद्ध हैं, उनपर यदि अनिच्छा से भी श्रद्धा करे तो मुक्त हो जाता है। ऐसे प्राणी को मैं बुरा नहीं कहता। किसलिए? कि क्लेशों का समूह नहीं होता अर्थात् बहुत से क्लेश इकट्ठा नहीं हो पाते, वे उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं तथा विलीन हुए भी हेतु-प्रत्यय सामग्री का संयोग होने पर पुन: उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते ही उनका निरोध हो जाता है। उत्पन्न होकर नष्ट होना ही क्लेशभङ्ग है।''

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए आर्यनागार्जुनपाद ने कहा है—

''यदि यह सब शून्य है और अनुत्पन्नस्वभाववाला है तो इस संसार में शुभाशुभ कर्मों द्वारा सुख-दु:ख की प्रवृत्ति कैसे होती है?

अहंकार-ममकार तथा रागादि मलों की कल्पना के वशीभूत हुए मूर्ख ही दु:ख भोगते हैं।

यह सब कुछ अन्य कुछ नहीं केवल चित्त ही है, जो मायाकारसमुत्थित है। इसी से ये शुभाशुभ कर्म होते हैं और उन्हीं के अनुसार शुभाशुभ जन्म भी होता है।''

अत: इसी का अनुसरण करते हुए परमदयालु सर्वतथागत संसार के प्राणियों को दु:ख-समुद्र में डूबते हुए, अनाथ, असहाय देखकर संवृति के अनुसार क्लेशस्वभाव का ज्ञान करा कर क्लेशविशुद्धि का उपाय बताते हुए संवृतिसत्य को परमार्थसत्य से विशुद्ध कर भूतनयात्मकसमाधि में प्रतिष्ठित कर देते हैं।। इति।।



लुप्त बौद्ध वचन संग्रह

—बनारसीलाल—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत अंक में तत्त्वज्ञानसंसिद्धि पर आचार्य वीर्यश्रीमित्र की टीका मर्मकलिका में उद्धृत वचनों को संगृहीत कर प्रस्तुत किया जा रहा है। उपर्युक्त ग्रन्थ दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ माला के अन्तर्गत तिब्बती संस्थान से प्रकाशित हुआ है।]

आर्यदेवपाद

(1)

[1]न विरागात्परं पापं पुण्यं न सुखतः परम् ।

च्युतिर्विरागसंभूतिर्विरागाद् दुःखसम्भवः ।
दुःखाद् धातुक्षयः पुंसां क्षयान्मृत्युः प्रजायते ।।

(2)

[2]नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा ।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ।।

गुह्यवज्रविलासिनीसाधन

(1)

[3]कृष्टं (ष्णं) मदनमासाद्य सुखाद्यं विद्यया सह ।
तावन्मात्रं तु कर्तव्यं न मनो विकलं यथा ।।
यथा महौषधं किञ्चित्सुस्वादं व्याधिघातकम् ।
प्रज्ञोपायसुखं तद्वद् हेलया क्लेशनाशनम् ।।

---

1. मर्म० त०, पृ० 5, द्र०-डा० जा० सं०, पृ० 4
2. मर्म० त०, पृ० 20, द्र०-च० श० 8.19
3. मर्म० त०, पृ० 18

सर्वस्य रमणी रामा रागिनी शुद्धरागिणाम् ।
एकस्य गलपाशः स्यादपरस्य बन्धकर्त्तिका ।।

(2)

[1]करवृद्धाङ्गुलीभ्यां तु पद्मपक्षद्वयं शनैः ।
घटितोद्घाटितं कुर्यात् स्फुरदब्जाम्बुजाननम् ।।

(3)

[2]पद्मं पाणितलं कुर्याद् बाहुमूलद्वयं तथा ।

(4)

[3]मन्थयेत् कमलाम्भोधिं सहजामृतकाङ्क्षया ।
वैराग्यकालकूटं च नोत्तिष्ठति यथा तथा ।।

श्रीगुह्येन्दु

[4]पञ्चबुद्धात्मकु सर्वजगोऽयम् ।

श्रीचक्रसंवर

(1)

[5]पद्मं पाणितलं कुर्यात् ।

(2)

[6]मृत्युर्नाम विकल्पोऽयं नीयते खेचरीपदम् ।

---

1. मर्म० त०, पृ० 20
2. मर्म० त०, पृ० 20
3. मर्म० त०, पृ० 27
4. मर्म० त०, पृ० 9
5. मर्म० त०, पृ० 20–21
6. मर्म० त०, पृ० 21

(3)

[1]कण्ठिकारुचककुण्डलशिरोमणिविभूषितम् ।
यज्ञोपवीतं भस्मेति मुद्राषट्कं प्रकीर्तितम् ।।

(4)

[2]सर्वधर्मोदयं विश्वम् ।

डाकिनीवज्रपञ्जर

[3]सर्वज्ञहेतुकं तद्धि सिद्धिनिकटे प्रवर्त्तकम् ।
पश्चान्मायोपमाकारं स्वप्नाकारं क्षणात्क्षणम् ।।

दउडीपाद

[4]विना प्रज्ञायोगाज्झटिति कुरुते वज्रपदवीं
सतां तद्योगाद् वा शिशिरकरसंबोधकरणात् ।
अधिष्ठानज्ञो यः स गुरुरिह नैवापर इति
प्रभावो यस्य द्राक् प्रहरति मनो दुर्जनमिव ।।

भगवान्

(1)

[5]अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तम्।

---

1. मर्म० त०, पृ० 37
2. मर्म० त०, पृ० 56
3. मर्म० त०, पृ० 47
4. मर्म० त०, पृ० 16
5. मर्म० त०, पृ० 8, द्र०-अ० सा० प्र०, पृ० 3

(2)

[1]बोधाम्भोधावनुल्लोके कतरः कल्पबुद्बुदः ।

(3)

[2]वरं जेतवने रम्ये शृगालत्वं वज्राम्यहम् ।
न तु वैभा(शे)षिकं मोक्षं गौतमो गन्तुमर्हति ।।

(4)

[3]सुखितस्य मनः समाधीयते समाहितश्च यथाभूतं प्रजानाति।

(5)

[4]अर्थप्रतिशरणेन बोधिसत्त्वेन भवितव्यं न शब्दप्रतिशरणेन।

मूलतन्त्र

[5]अथातो रहस्यं वक्ष्ये ।

लूयीपादाभिसमय

[6]विज्ञानस्कन्धे वज्रसत्त्वः सर्वतथागतत्त्वे श्रीहेरुकवज्रम्।

वज्रडाक

(1)

[7]विजनेऽध्यात्मसत्त्वादिविकल्परहितेषु च ।

---

1. मर्म० त०, पृ० 10
2. मर्म० त०, पृ० 11
3. मर्म० त०, पृ० 14
4. मर्म० त०, पृ० 34
5. मर्म० त०, पृ० 3
6. मर्म० त०, पृ० 15
7. मर्म० त०, पृ० 14

(2)

[1]दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैर्मूर्तिः शुष्यति दुःखिता ।
दुःखाद्विक्षिप्यते चित्तं विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा ।।

तत्रैव—

महारक्तं सकर्पूरं सर्वोत्कृष्टरसायनम् ।
महारक्तं भवेत् पुष्पं ऋतुकालसमुद्भवम् ।।

(3)

[2]अलिकं पशुः ।

(4)

[3]पुत्रजीवं च कथितं संपुटे सार्वकर्मिकम् ।
शतेन शान्तिकं ख्यातमष्टाधिकेन पौष्टिकम् ।।

वश्यं स्यात् पञ्चविंशत्या पञ्चाशत् सार्वकर्मिकम् ।
वैशारद्यादिसद्धर्मरूपो मेरुः प्रकीर्तितः ।।

धर्मधातुविशुद्ध्या तु तदूर्ध्वमपराङ्गुलीः ।
इति केचिन्नवैः सूत्रैः कुमारीकर्त्तितैर्गुणैः ।।

मुखान्निःसृत्य कमलं प्रविश्य मध्यवर्त्मना ।
पुनः पुनर्मुखात् पद्ममिति जापस्य लक्षणम् ।।

वँ बीजादेव निर्गच्छेदिति कश्चिद् गुरुर्मम ।
अत्र प्रयोजनाभावान्नोक्तैवापरमालिका ।।

---

1. मर्म० त०, पृ० 17
2. मर्म० त०, पृ० 38
3. मर्म० त०, पृ० 68

शान्तिके क्रोधविन्यस्तुः पौष्टिके मध्यतत्त्वतः ।
अनामा वश्यमित्युक्तं पर्यन्तमभिचारतः ।।

वज्रधर्मसाधन

[1]विस्फुरद् गुह्यवज्रं पद्मे प्रवेशयेत्। तत्र चित्तं स्थिरीकृत्य निर्विकल्परूपं महासुखं भावयेत्। ॐ शून्यता ज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहमिति पठेत्। तदत्र महारागनये वस्तुतैव शून्यता भावनीयेत्याम्नायः।

वसन्ततिलकटीका

[2]कालमेघपटलान्तरोच्छलद्विद्युदुग्रपटलाधिकत्विषम् ।
सत्त्वभाजनयुगप्रदाहिकां त्वां नमामि जगदम्ब हेरुकीम् ।।

नाभिचक्रकुहराम्बुराशितो वज्रवारिजसमाजसंभवाम् ।
सौधसाररसपानलम्पटां त्वां नमामि वडवानलत्विषम् ।।

विकल्पराज

[3]निरंशुके विद्वेषणम् ।

शबरपादीयसाधन

(1)

[4]राक्षसास्यं समाकुञ्च्य समुज्वाल्य प्रभास्वरम् ।
आकाल(र)स्तलचक्रस्थो वाराही सोऽभिधीयते ।।

---

1. मर्म० त०, पृ० 15
2. मर्म० त०, पृ० 4, द्र०-रहस्यदीपिका, पृ० 5
3. मर्म० त०, पृ० 68
4. मर्म० त०, पृ० 2-3

रेफस्ततः समुद्भूतो या रेखा वह्निरूपिणी ।
अकारो वाऽवधूतीति सर्वधर्मसुखं हि सा ।।

रेफो वह्निमयी रेखा तद्वर्तमाना(र्त्मना)चलिता सती ।
अत्राप्यकारो द्रष्टव्यः प्रभास्वरसुखाकृतिः ।।

द्वयोः संयोगतो वेति मध्यवर्णायतो भवेत् ।
हकारः सुखचक्रस्थो रेखयाऽऽलिङ्गितस्तया ।।

ततः संप्लावयन् देवीमिकारो बिन्दुरुच्यते ।
तस्माल्लोकोत्तरा काचिल्लोकोत्तरसुखप्रदा ।।

लक्ष्मीरक्षीणविभवा सेयमीकाररूपिणी ।
एनां सप्ताक्षरीं देवीं त्रैलोक्यज्ञानशुद्धितः ।।

वाराहीमवदद्वीरो हेरुको हेरुकीमिमाम् ।
चण्डमालमलीकं हि विश्वमस्याः प्रकाश्यते ।।
अत एवाह भगवान् चण्डालीमपि हेरुकीम् ।।

(2)

[1]कोलास्यासन्निधौ दृष्ट्वा नन्द्यावर्तं तु सद्बुधः ।

(3)

[2]पञ्चमुद्राविभूषिताम्।

(4)

[3]वरं प्राणपरित्यागो वरं मृत्युसमागमः ।
यदि सिद्धिं परामिच्छन् रक्षयेत्समयं सदा ।।

---

1. मर्म० त०, पृ० 38
2. मर्म० त०, पृ० 37
3. मर्म० त०, पृ० 69

सन्ध्याव्याकरण

[1]स्कन्धा एव हि सम्बुद्धाः ।

साधन

[2]अयन्तु सौख्यसाधनं ददातीति ।

साधनविभङ्ग

[3]प्रीतेयं किरवक्त्रा यद्यपि सिन्दूरपाततो मुकुरे ।
अध्यात्मरूपदेवीपूजा श्रेष्ठा तथापीह ।।

वज्रमभेद्यज्ञानधारणात् तस्याम्बुजं च मदनं च ।
वज्रधरशब्दवाच्यं तदुपरि शब्दात्तदावलम्ब्य ।।

मुकुरमिव निर्मलतरे चेतसि रागं विशुद्धमिव भुजगभवम् ।
विन्यस्य विकिर बाह्याभ्यन्तरधर्मोदयामथवा ।।

मन्त्रालीमिव मननात्त्राणान्मन्त्राक्षरं विलिख बीजम् ।
काञ्चनशलाकयैव स्फुटमवधूत्या सुशोभनया ।।

तत्रोदिता विकलुषा सुविशुद्धज्ञानरूपिणी याऽऽसीत् ।
उज्झितसकलविवादा तामिह परितोषयेद् योगी ।।

मुण्डालीमण्डिताङ्गीयमालिकाल्योर्विधारणात् ।
महासुखमयित्वेन रजोयोगयुता सदा ।।

यद्वाननगलद्रक्ता माराणां रक्तपानतः ।
मूलास्यं परमार्थेन संवृत्या शौकरं मुखम् ।।

---

1. मर्म० त०, पृ० 9
2. मर्म० त०, पृ० 5
3. मर्म० त०, पृ० 41-43

मूलानने त्रिनेत्रेयं त्रैकाल्येक्षणशुद्धितः ।
कोलानने त्रिनेत्रेयं सत्याभ्यां तुल्यदर्शनात् ।।

ऊर्ध्वाननास्थितो बिन्दुर्मूर्ध्वोत्थमिति कथ्यते ।
प्रत्यङ्गभ्रमणान्मुक्तं वियच्छुद्ध्या शितद्युतिः ।।

सुबद्धमुक्तगतिवद्वासनाशेषनाशतः ।
मनाक्क्रोधं मुखं देव्याः सौस्थित्या सुभगं वरम् ।।

भावाभावविकल्पानां च्छेदार्थं कर्त्तिका कृता ।
दक्षिणस्तीक्ष्णकिरणस्तीक्ष्णत्वाद् दक्षिणे धृता ।।

बोधिचित्तविशुद्ध्यैव कपालं रक्तपूर्णता ।
सुविशुद्धेन रागेण संयोगप्रतिपादिका ।।

यद्वा महासुखसदाकृपारसमयं नृकम् ।
रक्तपूर्णं धृतं वामे बिन्दोर्वामप्रवाहतः ।।

खे नाड्यां तुङ्गत इति खट्वाङ्गं बिन्दुरुच्यते ।
तदेव ध्वजमित्युक्तं योगिचिह्नतयाऽनया ।।

पञ्चात्मकोऽयं भगवान् क्रीडते सुखचक्रके ।
विहीनः पञ्चतो बिन्दुरिति काली शिरःस्थिता ।।

कृताः सुखतया भेद्याः सुखचक्रे तथागताः ।
इति दम्भोलिकीराजी राजते शिरसि स्थिता ।।

ऊर्ध्वं बिन्दुः सहाऽविद्यासुरमुन्मूलितुं क्षमः ।
बिन्दोः संवृतिरूपत्वात् संवृत्या शौकरं मुखम् ।।

तदुद्भूतं महारागरसविद्धं महासुखम् ।
तथैव परमार्थत्वाल्लोहितं मूलाननम् ।।

निमील्यापि दृशं पश्यन्नभः स न विलोहितम् ।
तच्छुद्ध्या लोहिता देवीत्याह मे गुरुरन्तिमः ।।

धर्मोदयोदितं रूपं स्थिरबीजं निरञ्जनम् ।
तदेव चक्रमित्युक्तं कल्पनाजालनाशतः ।।

संवर (सिद्धाचार्यकृष्णपाद)

(1)

[1]वाक्पथातीतवाशब्दो राकाराकारवर्जितः ।
हेत्वनुपलब्धिहीकारं वाराहीशब्दकीर्तितम् ।।

(2)

[2]वामाचारः सदा योगी वामपादं पुरःक्रमेद् ।

•

1. मर्म० त०, पृ० 6
2. मर्म० त०, पृ० 15

लुप्त बौद्ध वचन संग्रह : परिशिष्ट

(अंक 16 से 30)

—बनारसीलाल—

[लुप्त बौद्ध वचन संग्रह इस शीर्षक के अन्तर्गत धी: अंक 1 से 8 तक की पूरी सामग्री को लुप्त बौद्ध वचन संग्रह - भाग-1, के रूप में सन् 1990 में पृथक् से प्रकाशित किया गया था। तत्पश्चात् 9वें अंक से 14वें अंक तक की सामग्री को विविध परिशिष्ट धी: 15वें अंक में दिया जा चुका है। उसके पश्चात् कुछ ही अंकों में इस शीर्षक से सामग्री प्रकाशित हुई। सम्प्रति 16वें से 30वें अंक तक में आये लुप्त बौद्ध वचनों का परिशिष्ट इस अंक में दिया जा रहा है। साथ ही धी: 20वें अंक में संगृहीत अपभ्रंश वचनों की भी सूची दी जा रही है ताकि अध्ययन कर्ताओं को सरलता से शोध-सामग्री उपलब्ध हो सके।]

उद्धृतवचनानुक्रमणी

•

गद्यानुक्रमणी

•

ग्रन्थ-ग्रन्थकारसंकेतसूची

अ० गु० तं०	असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्र	ख० तं०	खसमतन्त्र
अध्या०	अध्यात्मसाधनोपायिका	गु०	श्रीगुह्येन्दु
अनु०	अनुत्तरसन्धि	गु० ति०	गुह्येन्दुतिलक
आ० दे०	आर्यदेवपाद	गु० वि० सा०	गुह्यवज्रविलासिनीसाधन
आ० बु०	आदिबुद्ध	च० प० तं०	चतुर्देवीपरिपृच्छामहायोगतन्त्र
ए० नि० सू०	एकनयनिर्देशसूत्र	च० सं०	चक्रसंवर
कि०प०सू०	किन्नरराजपरिपृच्छासूत्र	जि० ज०	जिनजननी
कु० सू०	कुलसूत्र	ज्ञा० व० तं०	ज्ञानवज्रसमुच्चयमहायोगतन्त्र

डा० व० पं०	डाकिनीवज्रपञ्जर	व० यो० तं०	वज्रमुखीयोगतन्त्र
त० को० सू०	तथागतकोशसूत्र	व० सा०	वज्रधर्मसाधन
त० सं०	तत्त्वसंग्रह	वि० म० तं०	विनयामोघसिद्धिमहातन्त्र
तं० रा०	तन्त्रराज	वि० रा०	विकल्पराज
द० पा०	दउडीपाद	वि० सं० सू०	विज्ञानसंक्रान्तिसूत्र
दे० पा०	देशनापाठ	वै० तं०	वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र
प० बु०	परमादिबुद्ध	व्या० तं०	व्याख्यातन्त्र
प० म० तं०	परमाद्यमहायोगतन्त्र	श० सा०	शबरपादीयसाधन
पर०	परमेश्वर	शू० सू०	शूरङ्गमासूत्र
पि० त्र० न०	पिटकत्रयनय	षट्० को०	षट्कोटि
प्रज्ञा०	प्रज्ञापारमिता	स० उ०	समाजोत्तर
भग०	भगवान्	स० क० स०	सर्वकल्पसमुच्चय
भ० पा०	भट्टारकपाद	स० नि० सू०	सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देशसूत्र
भ० पा० सू०	भद्रपालिपरिपृच्छासूत्र	स० वि० सू०	सर्वकर्मावरणविशुद्धिसूत्र
मू० तं०	मूलतन्त्र	स० स० डा०	सर्वबुद्धसमायोगडाकिनी-जालसंवरनय
मू० सू०	मूलसूत्र		
यो० तं०	योगिनीतन्त्र/योगतन्त्र	स० स० डा० तं०	सर्वबुद्धसमायोगडाकिनी-जालसंवरमहायोगतन्त्र
र० सू०	रत्नकूटसूत्र		
लूयी०	लूयीपादाभिसमय	स० स० तं०	सर्वदेवसमागमतन्त्र
लो० ना०	लोकनाथ	सं०	संवर
व० ग०	वज्रगर्भ	सं० तं०	संवरतन्त्र
व० डा०	वज्रडाक	सं० व०	सन्ध्यावचन
व० तं०	वज्रोष्णीषतन्त्र	सं० व्या०	सन्ध्याव्याकरण/महायोगतन्त्र
व० ति० टी०	वसन्ततिलकटीका	सा०	साधन
व० म० तं०	वज्रमण्डालंकारतन्त्र	सा० वि०	साधनविभङ्ग
व०मा०	वज्रमाला	सेक०	सेकोद्देश

अपभ्रंश वचनानुक्रमणी

सवे परिवारे वेटिल	20	21	सिद्धो सो पुण	20	20
सहज अमिअ रसु	20	20	सुण्ण करुण जइ	20	18
सहज इह णिब्बाण	20	18	सो फुल्ला फुल्लिङ्गौ	20	23
सहज कप्परे वेविठअ	20	18	सोवि पट्टिज्जेई सोवि	20	18
सहज छडिजें	20	21	सो वि मणु तहिं	20	20
सहज महातरुअ	20	19	स्कन्धभूअ आअतण	20	20
सहज सहावें सअल	20	20	हणं विण मांसे भुसुकु	20	19
सहज सहावें सो	20	20	हरिहर ब्रह्म पुरन्दर	20	18
सहजें णिच्चल ये	20	20			

•

मन्त्रोद्धार विमर्श

—बनारसीलाल—

[तन्त्र शास्त्रों में मन्त्र समवेत रूप से जुड़े हैं। तन्त्र ग्रन्थों के सम्पादन करते समय मन्त्रों की शुद्धता एक समस्या बन जाती है। इस समस्या का कुछ निराकरण तन्त्र ग्रन्थों में वर्णित मन्त्रोद्धार-विधि से हो जाता है। प्रस्तुत लेख में चक्रसंवर, वज्रभैरव, हेरुक एवं हेवज्रतन्त्र के कुछ मन्त्रों की मन्त्रोद्धार-विधि का विश्लेषण किया गया है तथा साथ ही इस प्रक्रिया द्वारा मन्त्रों की निष्पत्ति का सोदाहरण निरूपण किया गया है।]

तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों का विशिष्ट स्थान है। तन्त्रशास्त्र का अध्ययन मन्त्रों के अध्ययन के विना अपूर्ण होता है। मन्त्रों की महत्ता बौद्ध एवं बौद्धेतर दोनों तन्त्र-परम्पराओं में स्वीकृत है। बौद्धतन्त्र भी अनेक प्रकार के हैं, क्रिया, चर्या, योग एवं अनुत्तरयोगतन्त्र रूप में बौद्धतन्त्रों का विभाजन सुविख्यात है। इस चतुर्विध विभाजन में अनेकानेक तन्त्र अनुस्यूत हैं और प्रायः प्रत्येक तन्त्र का अपना पृथक् देवता है। बौद्धतन्त्रों में तन्त्र के साथ उसके देवता की भी कल्पना मिलती है, जैसे कालचक्रतन्त्र का देवता कालचक्र, हेवज्रतन्त्र का देवता हेवज्र, चक्रसंवरतन्त्र का देवता चक्रसंवर, गुह्यसमाजतन्त्र का देवता गुह्यसमाज इत्यादि। इन तन्त्रों में अपने-अपने देवताओं के आधार पर मन्त्र हैं। तन्त्रशास्त्रों में इन मन्त्रों का स्पष्टतया उल्लेख न कर मन्त्रोद्धार की विशेष विधि बतलायी गयी है। प्रायः सम्बन्धित मन्त्रों का उल्लेख उन-उन तन्त्रों के साधन, पूजा, अभिषेक एवं मण्डल इत्यादि ग्रन्थों में मिल जाता है। सम्भवतः तन्त्रों में इनकी गुह्यता की दृष्टि से स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया हो।

मन्त्रोद्धार के लिए आलिकालि अर्थात् 16 स्वर एवं 33 व्यञ्जनों का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः आलिकालि के 49 अक्षरों में ही सभी मन्त्र समाहित हैं। इन स्वरों एवं व्यञ्जनों की स्थापना यन्त्रों में अनेक विधि से की जाती है। यन्त्रों एवं कोष्ठकों में प्रस्तारित मन्त्र धर्मोदय स्वरूप एवं विभिन्न गुण विशिष्टों से युक्त हैं। मन्त्रों का सम्यक् उच्चारण हो एवं सम्पादन सम्यक् रीति से हो एतदर्थ मन्त्रोद्धार विधि को समझना तथा मन्त्रोद्धार पद्धति से मन्त्र का निर्माण करना आवश्यक है।

तन्त्र, धारणी और मन्त्र यह अपने में एक पूरक व्यवस्था भी है। लम्बे-लम्बे सूत्रों एवं तन्त्रों के वाचन की सुविधा के लिए धारणी मन्त्रों का निर्माण हुआ, ऐसा आधुनिक

विद्वानों का मत है। तन्त्रशास्त्रों के साथ ही समवेत रूप में धारणी एवं मन्त्रों का भी उद्भव हुआ ऐसा प्रतीत होता है। यदि मन्त्र शब्द के लाक्षणिक अर्थ पर ध्यान दें तो प्रायः तन्त्रशास्त्रों में इसका व्युत्पत्ति जन्य अर्थ मनन (अभ्यास) करने से और त्राण करने से मन्त्र कहा गया है। "मननात् त्राणनाच्च मन्त्रः" (हे० तं० टी०, प० 10), वसन्ततिलक में मन्त्र को नाद स्वरूप बताया गया है "नादस्तु मन्त्र इत्युक्तः" (पृ० 68)। नाभिदेश में उच्चरित हो रहा ऊर्ध्वगतिशील प्राणवायु ही सभी मन्त्रों का जनक है और यही प्राणवायु सभी वर्ण, पद आदि वाणी के व्यापार का मूलकारण है।

तन्त्रग्रन्थों एवं उनके साधना ग्रन्थों में मन्त्रों के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं। जैसे—मूलमन्त्र, हृदयमन्त्र, उपहृदयमन्त्र, बीजमन्त्र, पूजामन्त्र, मालामन्त्र, विद्याराजमन्त्र आदि। इन मन्त्रों का प्रयोग साधना में, मण्डलनिर्माण एवं अभिषेक इत्यादि के उपक्रमों में बारम्बार मिलता है। तन्त्रों के आधार पर विहित अनुष्ठानों के अवसर पर या साधना में किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति के लिए इन मन्त्रों का सौ, हजार, लक्ष की संख्या में जाप करने से वाञ्छित फलों की प्राप्ति बतलायी गयी है। इन मन्त्रों का सम्यक् और शुद्ध उच्चारण हो इसलिए मन्त्रोद्धार की विधि बतलाई गई है, जिससे हम मन्त्रों के युक्तायुक्त स्वरूप का निर्णय कर सकते हैं। अन्यथा इसके अभाव में मन्त्रों का सम्पादन-कार्य दुष्कर है।

यद्यपि तन्त्र साहित्य का भोट भाषा में भी अनुवाद सम्पन्न हुआ है, परन्तु वहाँ संस्कृत मन्त्रों को भोटलिपि में ही लिख दिया गया है। बहुत समय बीत जाने एवं भाषा की दुरूहता के कारण किञ्चित् पाठ भ्रष्ट भी हो गए हैं। ऐसी स्थिति में इनका शुद्ध पाठ निर्णय करना कठिन से कठिनतर हो जाता है। इन परिस्थितियों में मन्त्रोद्धारपद्धति के आश्रय से ही सर्व शुद्ध मन्त्रों तक पहुँचा जा सकता है।

तन्त्रशास्त्रों में अनेक प्रकार की मन्त्रोद्धार पद्धतियों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में चक्रसंवरतन्त्र, वज्रभैरवतन्त्र तथा शून्यसमाधिपाद रचित तत्त्वज्ञानसंसिद्धि में वर्णित मन्त्रोद्धार के सन्दर्भ में किञ्चित् पर्यालोचन किया जा रहा है। यह ध्यातव्य है कि जहाँ चक्रसंवरतन्त्र और वज्रभैरवतन्त्र को कन्युर श्रेणी में रखकर बुद्धवचन स्वीकारा गया है वहीं तत्त्वज्ञानसंसिद्धि दिवाकरचन्द्र, जो बाद में शून्यसमाधिपाद के नाम से विख्यात हुए; की रचना है।

मन्त्रोद्धार की पद्धति को समझें इससे पूर्व निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(क) आलिकालि के 49 वर्णों में ही चक्रसंवर का मन्त्र समाहित है। इन्हीं 49 वर्णों से मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ये वर्ण आठ वर्गों में विभाजित हैं। इनमें प्रथम वर्ग आलि के 16 स्वर हैं। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग क्रमशः दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ एवं छठा वर्ग है। अन्तस्थ य र ल व सातवाँ वर्ग तथा श ष स ह ऊष्म आठवाँ वर्ग है। इस प्रकार ये आठ वर्ग मन्त्रोद्धार में प्रसिद्ध हैं और प्रायः यही क्रम अन्य तन्त्रों की मन्त्रोद्धार प्रक्रिया में भी प्रयोग में लाया जाता है।

(ख) दूसरी प्रक्रिया यह भी अपनाई जाती है कि जिसमें केवल सात वर्गों का उल्लेख रहता है। इस प्रक्रिया में स्वरों को छोड़कर केवल व्यञ्जन ही गृहीत होते हैं। यथा कवर्ग को प्रथम वर्ग तथा क्रमशः श ष स ह ऊष्म को सातवाँ वर्ग माना जाता है। सामान्य रूप से य र ल व को अन्तस्थ और श ष स ह को ऊष्म के नाम से भी पहचाना जाता है।

(ग) मन्त्रोद्धार में तीसरा तथ्य यह है कि 16 स्वर और 33 व्यञ्जनों को संख्या के माध्यम से जाना जाता है। इस प्रकार कुल 49 संख्याओं का प्रयोग किया जाता है। स्वरों में अकार प्रथम तथा अः की संख्या सोलहवीं है। इस क्रम से कवर्ग के ककार की संख्या सत्रह तथा क्रमशः अन्तिम हकार 49वाँ है।

(घ) यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवर्ग आदि में पाँच-पाँच वर्ण हैं और यवर्ग और शवर्ग में चार-चार। स्वर के वर्ण अपने अंकों से जाने जाते हैं, परन्तु व्यञ्जन वर्णों में क ख ग घ ङ को प्रथम का प्रथम, प्रथम का द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम से जाना जाता है, इसी प्रकार अन्य वर्गों के वर्ण भी।

(ङ) मन्त्रोद्धार प्रक्रिया में एक-दूसरी संख्याओं की गणना दी है। उस प्रक्रिया में केवल व्यञ्जनों को ग्रहण कर संख्याएं दी गई हैं। तदनुसार कवर्ग के ककार की संख्या एक तथा क्रमशः 33वीं संख्या से हकार गृहीत किया जाता है।

(च) मन्त्रोद्धार में स्वर और व्यञ्जन के वर्णों को ग्रहण करने की एक पृथक् प्रक्रिया यह भी है, जिसका कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है। जैसे—यदि उकार को ग्रहण करना हो तो उसे छठा से पूर्व या आदि वर्ण कहा जायेगा।

(छ) जब स्वर एवं व्यञ्जनों को विधि पूर्वक यन्त्र में धर्मोदयाकार क्रमशः लिख दिया जाता है, तब वर्णों को इंगित करने के लिए वर्णों के दाएं एवं बाएं स्थित शब्दों को बतला दिया जाता है। जैसे एकार कहना हो तो ऐवामयुतं कह दिया जाता है और इसी प्रकार वर्णों के ऊपर एवं नीचे स्थित वर्णों को बतलाया जाता है।

(ज) चार या पाँच महाभूतों से उनके बीजाक्षर गृहीत किए जाते हैं। जैसे—अग्निबीज-र, वायुबीज-य इत्यादि। 'र' यतः अग्नि का बीजाक्षर है। अतः रेफ को वह्नि, भास्कर, तेज, अग्नि, सूर्य इत्यादि शब्दों से भी इंगित किया जाता है।

(झ) मन्त्रोद्धार में वर्णों के ग्रहण करने के लिए अन्य भी अनेक प्रकार की पद्धतियाँ हो सकती हैं। यहाँ सभी की विशेषताएं बतला देना सम्भव नहीं, जब तक सभी पद्धतियों का सम्यक् विश्लेषण न कर लें। क्योंकि तन्त्रों में अपनी पृथक्-पृथक् पद्धतियाँ एवं यन्त्र आदि के आकार भिन्न-भिन्न हैं। जैसे हेवज्र मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया में पुक्कसी, घस्मरी आदि देवियों का निर्देश करते हैं। वहाँ इन देवियों के द्वारा स्वर-वर्ण नियत हैं। जैसे पुक्कसी अर्थात् ऊकार तथा डाकिनी से उकार। उसी प्रकार यह एक सामान्य प्रक्रिया है कि ॐकार या प्रणव को कहने के लिए वैरोचन कह दिया जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञानसंसिद्धि में ॐ की निष्पत्ति में क्रमशः अ+उ+म् को उद्धार कर निष्पन्न किया है।

(ञ) प्रथम का प्रथम या द्वितीय कहते समय अकार का प्रथम है या ककार का प्रथम है, इसे स्पष्ट करने के लिए प्रायः अकाराधिष्ठित या ककाराधिष्ठित द्वारा इंगित किया गया है।

(ट) क्षकार के उद्धार के लिए क्+ष वर्ण का प्रयोग किया गया है, क्योंकि क्षकार स्वयं स्वतन्त्र वर्ण नहीं है, यह क्+ष के योग से निष्पन्न हुआ है। इसलिए स्वर एवं व्यञ्जनों में इसकी गणना नहीं की गई है। वज्रभैरवतन्त्र में इसे वर्णान्त की संज्ञा से उद्धृत किया है।

(ठ) कहीं स्वरों को प्रथम एवं व्यञ्जन वर्ग को द्वितीय कहा गया है।

चक्रसंवर के पाँचवें एवं सातवें पटल में मूलमन्त्र के उद्धार की पद्धति दी है। पाँचवें पटल में मूलमन्त्र के अक्षरों का उद्धार बतलाया है और सातवें में स्वरयोजना। मूलमन्त्र में अक्षरों की कुलसंख्या 198 होनी चाहिए। संस्कृत में प्राप्त मूल पाठ में पहले 83 अक्षरों का उद्धार है और उसके पश्चात् 84 से 198 तक की उद्धार प्रक्रिया न बतलाकर कर कर कुरु कुरु .....इत्यादि मन्त्र ही दे दिया गया है, जबकि इसके भोटानूदित ग्रन्थ में 84 से 198 तक के अक्षरों की भी पाँचवे पटल में अक्षरोद्धार पद्धति बतलाई है। सातवें पटल में मूलमन्त्र के अक्षरों के साथ स्वरयोजन की पद्धति दर्शायी गयी है तथा 84-198 तक के अक्षरों के साथ स्वरयोजना जहाँ भोट पाठ में दी है, वहीं प्राप्त संस्कृत पाठ में नहीं है। चक्रसंवरतन्त्र के मूलमन्त्र का उद्धार अभिधानोत्तर तन्त्र में भी मिलता है, जिसका पाठ भोट प्रक्रिया से सामञ्जस्य रखता है। इस मन्त्र के आदि में ॐ तथा अन्त में हूँ फट् जोड़ना है, जिसका उल्लेख किया गया है, परन्तु उद्धारपद्धति से वर्णित नहीं किया है। वस्तुतः जिस ढंग से प्रस्तारित करना है, चक्रसंवर में कहा है—

आलिकालिसमां कृत्वा वर्गेभ्यः परिणामितान् ।
चतुश्चतुर्भिर्विज्ञेयं प्रस्तरे मुनिसत्तम (?) ।। (5.2)

मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया को समझें इससे पूर्व स्वर एवं व्यञ्जनों के प्रस्तारण को जानना तथा पूर्वोक्त इनकी संख्याओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें वर्णों की संख्याओं को भी दर्शाया गया है।

तालिका-1

(1)	(1) अ	(2) आ	(3) इ	(4) ई	(5) उ	(6) ऊ	(7) ऋ	(8) ॠ
	(9) लृ	(10) ॡ	(11) ए	(12) ऐ	(13) ओ	(14) औ	(15) अं	(16) अः
		1.	2.	3.	4.	5.		
(2)	1	(17) 1 क	(18) 2 ख	(19) 3 ग	(20) 4 घ	(21) 5 ङ		

(3)	2	(22) 6 च	(23) 7 छ	(24) 8 ज	(25) 9 झ	(26) 10 ञ
(4)	3	(27) 11 ट	(28) 12 ठ	(29) 13 ड	(30) 14 ढ	(31) 15 ण
(5)	4	(32) 16 त	(33) 17 थ	(34) 18 द	(35) 19 ध	(36) 20 न
(6)	5	(37) 21 प	(38) 22 फ	(39) 23 ब	(40) 24 भ	(41) 25 म
(7)	6	(42) 26 य	(43) 27 र	(44) 28 ल	(45) 29 व	
(8)	7	(46) 30 श	(47) 31 ष	(48) 32 स	(49) 33 ह	

पञ्चम पटल में पहले अष्टपद मन्त्र का अक्षरोद्धार दर्शाया गया है। तदनुसार जो अक्षर निःसृत होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1.	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10		
	न	म	भ	ग	व	त	व	र	श	य		
2.	11	12	13	14	15	16	17	18	19			
	म	ह	क	ल	ग	स	न	भ	य			
3.	20	21	22	23	24	25	26	27				
	ज	ट	म	क	ट	त	ट	य				
4.	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39
	द	ष	क	र	ल	ग	भ	ष	ण	म	ख	य
5.	40	41	42	43	44	45	46	47	48			
	स	ह	स	भ	ज	भ	स	र	य			

6.	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63
	प	र	श	प	श	द्य	त	श	ल	ख	ट	ग	ध	र	ण
7.	64	65	66	67	68	69	70	71	72						
	व्या	घ	ज	न	म	र	ध	र	य						
8.	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83				
	म	ह	ध	म	न	क	र	व	प	ष	य				

पञ्चम पटल में इस प्रकार उद्धारविधि वर्णित है—

[1]आलिकालिसमां कृत्वा वर्गेभ्यः परिणामितान्।
चतुश्चतु(र्भि)र्विज्ञेयं प्रस्तरे मुनिसत्तम (?) ।। 1 ।।

तत्रस्थमुद्धरेद्वीरं सर्वकामार्थसाधकम् ।
न[1] म[2] चतुर्थस्य यः पञ्चमं पञ्चमस्यापि पञ्चमम् ।। 2 ।।

भ[3] ग[4] पञ्चमस्य यश्चतुर्थं प्रथमस्य यस्तृतीयम् ।
व[5] त[6] एकोनत्रिंशत्तथैव च चतुर्थस्य यः प्रथमः ।। 3 ।।

व[7] र[8] अन्तस्थानां यश्चतुर्थं तस्यैव द्वितीयं तु ।
श[9] य[10] त्रिंशमं तु समादाय तथा षड्विंशमेव च ।। 4 ।।

म[11] एतत्सर्वं समुद्धृत्य शतार्द्धार्द्धं तु तथा पुनः ।
ह[12] क[13] त्रयस्त्रिंशं तु ततो ग्राह्यं प्रथमस्य प्रथमम् ।। 5 ।।

ल[14] ग[15] अन्तस्थानां तृतीयं चैव प्रथमस्य तृतीयं तु ।
स[16] न[17] द्वात्रिंशमेव च चतुर्थस्य यः पञ्चमम् ।। 6 ।।

भ[18] य[19] पञ्चमस्यापि यश्चतुर्थं अन्तस्थस्य यः प्रथमम् ।
ज[20] ट[21] द्वितीयस्य यस्तृतीयं तृतीयस्य यः प्रथमम् ।। 7 ।।

---

1. देखें - तालिका-1

म[22] क[23] पञ्चमस्यापि पञ्चमं प्रथमस्य प्रथमं तु ।
ट[24] त[25] तथा एकादशञ्चैव षोडशमं तथा विदुः ।। 8 ।।

ट[26] य[27] तृतीयस्य यः प्रथमं षड्विंशतिमं तथा ।
द[28] ष[29] चतुर्थस्य यस्तृतीयं तु ऊष्माणां द्वयमेव च ।। 9 ।।

क[30] र[31] प्रथमस्य यः प्रथमं सप्तविंशतिमं तथा ।
ल[32] ग[33] अष्टविंशतिमं पुनः प्रथमस्य तृतीयं तु ।। 10 ।।

भ[34] ष[35] पञ्चमस्यापि चतुर्थकं एकत्रिंशं ततो गृह्य ।
ण[36] म[37] तथा पञ्चदशञ्चैव पञ्चविंशतिमं तथा ।। 11 ।।

ख[38] य[39] प्रथमस्य द्वितीयं तु तथा षड्विंशतिमं पुनः ।
स[40] ह[41] द्वात्रिंशदक्षरं चैव ऊष्माणामन्तमेव च ।। 12 ।।

स[42] भ[43] द्वात्रिंशत् पुनश्चैव पञ्चमस्य चतुर्थं तु ।
ज[44] भ[45] द्वितीयस्य तृतीयं चैव पञ्चमस्य चतुर्थं तु ।। 13 ।।

स[46] र[47] ऊष्माणां तृतीयं चैव सप्तविंशतिमं परम् ।
य[48] प[49] अन्तस्थानां प्रथमं चैव तथा एकविंशतिमं पुनः ।। 14 ।।

र[50] श[51] अन्तस्थानां यः द्वितीयं त्रिंशतिमं पुनस्तथा ।
प[52] श[53] पञ्चमस्य यः प्रथमं ऊष्माणां प्रथमं चैव ।। 15 ।।

द्य[54] तं[55] तथा द्यकारमेव च चतुर्थस्य यः प्रथमम् ।
श[56] ल[57] ऊष्माणां तु यः प्रथमं अष्टविंशतिमं तथा ।। 16 ।।

ख[58] ट[59] प्रथमस्य द्वितीयं तु तृतीयस्य प्रथमोच्यते ।
ग[60] ध[61] प्रथमस्य यस्तृतीयं चतुर्थस्य चतुर्थं तु ।। 17 ।।

र[62] ण[63] अन्तस्थानां यः द्वितीयं तृतीयस्यापि पञ्चमम् ।
व्या[64] घ[65] व्याकारं वीरमित्याहुः प्रथमस्य चतुर्थं तु ।
ज[66] तथा चाष्टममेव च ।। 18 ।।

न[67] म[68] **चतुर्थस्य यः पञ्चमं पञ्चमस्यापि पञ्चमम् ।**
र[69] ध[70] **सप्तविंशतिमं तथा चतुर्थस्य चतुर्थं तु ।। 19 ।।**

र[71] य[72] **सप्तविंशतिमं पुनश्चैव तथा वै षड्विंशतिमेव च ।**
म[73] ह[74] **पञ्चविंशतिमं समादाय त्रयस्त्रिंशमेव च ।। 20 ।।**

ध[75] म[76] **चतुर्थस्य चतुर्थं तु पञ्चमस्य पञ्चमम् ।**
न[77] क[78] **चतुर्थस्यापि पञ्चमं प्रथमस्य प्रथमं चैव ।। 21 ।।**

र[79] व[80] **सप्तविंशतिमं तथा अन्तस्थानां चतुर्थं तु ।**
प[81] ष[82] **एकविंशतिमं तथा ऊष्माणां द्वितीयश्चैव ।**
य[83] **तथा षड्विंशमेव च ।। 22 ।।**

इस प्रकार मूलमन्त्र के अक्षरों के उद्धार के पश्चात् सातवें पटल में उनमें स्वर-योजन बतलाया गया है। यहाँ द्वितीयाक्षर षष्ठाक्षर आदि से मन्त्र के दूसरे, छठे आदि में स्वरों का संयोजन होता है, वर्गों के नहीं। जैसे 'म' मन्त्र का दूसरा अक्षर है, उसमें 13वाँ स्वर ओ जोड़ा 'मो' हो गया, ऐसे ही आगे भी अक्षरों में स्वर-योजन करने पर ही मन्त्र उभरते हैं। यथा—

मो[2] **स्वराणां त्रयोदशेनैव द्वितीयाक्षरयोजितम् ।**
ते[6] **एकादशस्वरसंयुक्तं षष्ठमाक्षरभूषितम् ।। 1 ।।**

वी[7] **स्वराणां चतुर्थेनैव संयुक्तं सप्तमाक्षरम् ।**
रे[8] **एकादशस्वरसंयुक्तमष्टमं चाक्षरं विदुः ।। 2 ।।**

शा[9] **नवमं ततो गृह्याक्षरं द्वितीयस्वरसंयुक्तम् ।**
हा[12] **स्वराणां द्वितीयेनैव संयुक्तं द्वादशाक्षरम् ।। 3 ।।**

ल्पा[14] **एकविंशत्ततो गृह्याक्षरं द्वितीयस्वरसंयुक्तम् ।**
चतुर्दशाक्षरं मतम् ।। 4 ।।

ग्नि[15] विंशत्येन समायुक्तं पञ्चदशाक्षरं गृह्य ।
तृतीयस्वरयोजितम् ।
सं[16] स्वराणां पञ्चदशं चैव शोभनं षोडशाक्षरम् ।। 5 ।।

नि[17] तृतीयस्वरसंयुक्तं सप्तदशमाक्षरम् ।
भा[18] स्वराणां द्वितीयेनैव अष्टादशाक्षरसंयुक्तम् ।। 6 ।।

टा[21] आकारस्वरसंयुक्तं एकविंशतिमाक्षरम् ।
कु[23] मातृका पञ्चमेन संयुक्तं त्रयोविंशत्यक्षरम् ।। 7 ।।

टो[24] स्वराणां त्रयोदशमं तेन संयुक्तं चतुर्विंशत्यक्षरम् ।
त्क[25] प्रथमस्य प्रथमं गृह्य संयोगाक्षरं पञ्चविंशत्यक्षरम् ।। 8 ।।

टा[26] द्वितीयस्वरसंयुक्तं षड्विंशत्यक्षरं भवेत् ।
दं[28] अष्टाविंशतिमं चैव पञ्चदशेनार्चितम् ।। 9 ।।

तृतीयस्य प्रथमेन संयुक्तमधोभागेन वह्निसंयुक्तम् ।
ष्ट्रा[29] तथैव द्वितीयस्वरयोजितमेकोनत्रिंशतिमं चाक्षरं भवेत् ।। 10 ।।

रा[31] एकत्रिंशत्यक्षरं [तु] द्वितीयस्वरयोजितम् ।
लो[32] द्वाविंशत्यक्षरं [चैव] त्रयोदशस्वरयोजितम् ।। 11 ।।

ग्र[33] भास्करेण समायुक्तं त्रयस्त्रिंशत्यक्षरं भवेत् ।
भी[34] मातृकाचतुर्थेनैव चतुस्त्रिंशत्समायुक्तम् ।। 12 ।।

सर्वकामार्थसाधकं मातृकापञ्चमेनैव ।
मु[37] सप्तत्रिंशत् समायुक्तं साधनं डाकिनीस्मृतम् ।। 13 ।।

खा[38] अष्टत्रिंशतिमं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।
साधनं सर्वदेवानामेवमेव न संशयः ।। 14 ।।

स्र[42] द्वाचत्वारिंशतिमं चैव दहनेन तु संयुक्तम् ।
अधो भागेन साधकः ।। 15 ।।

भु[43] त्रिचत्वारिंशत्यक्षरं स्वराणां पञ्चमेनैव योजितम् ।
भा[45] पञ्चचत्वारिंशतिमं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 16 ।।

सु[46] स्वराणां पञ्चमेनैव षट्चत्वारिंशतिमं संयुक्तम् ।
रा[47] सर्ववीरप्रपूजितं सप्तचत्वारिंशमं चैव ।।
द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 17 ।।

वज्रसत्त्वं परं मतं एकपञ्चाशकं चैव ।
शु[51] स्वराणां पञ्चमेन तु शोभनं परमं मतम् ।। 18 ।।

पा[52] द्वापञ्चाशं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।
साधनं सर्वदेवानामेवमेव न संशयः ।। 19 ।।

शो[53] त्रिपञ्चाशस्तथा पुनः त्रयोदशस्वरयोजितम् ।
ह्य[54] चतुर्थवर्गाद्दकारं समुद्धृत्य चतुःपञ्चाशेन योजितम् ।। 20 ।।

शू[56] षट्पञ्चाशदक्षरं षष्ठस्वरयोजितम् ।
ध्रुवं शत्रुविनिकृन्तनं अन्तस्थानां चतुर्थेन ।। 21 ।।

द्वितीयस्वरयोजितं तथा पञ्चदशान्वितम् ।
ट्वाँ[59] साधनं सर्वसिद्धिनां ऊनषष्टि चाक्षरं भवेत् ।। 22 ।।

धा[61] एकषष्टिमाक्षरसंयुक्तं स्वरेण द्वितीयेन तु ।
एवमेव विदुर्वरा द्वाषष्टिस्तथा चैव ।। 23 ।।

रि[62] तृतीयस्वरयोजितं डाकिनीनां परमं मतम् ।
णे[63] त्रिषष्टि[श्च] पुनश्चैव एकादशस्वरसंयुक्तम् ।। 24 ।।

शोभनं वर्णोत्तमं पञ्चषष्टिस्तथा चैव ।
घ्रा[65] वज्रसत्त्वेन भेदितं द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 25 ।।

इदं बीजं परं दिव्यं सिद्धिदं मोक्षदं महत् ।
जि[66] षट्षष्टि अक्षरं तु तृतीयस्वरयोजितम् ।। 26 ।।

सिद्धिदं सर्वकार्येषु तथागत इदं ब्रबीत ।
ना[67] सप्तषष्टिमाक्षरसंयुक्तं द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 27 ।।

योगिनीनां सर्वकार्येषु एवमेव न संशयः ।
म्ब[68] अष्टषष्टि पुनश्चैव बकारं तत्र योजयेत् ।। 28 ।।

अनेन बीजाक्षरेण अधो भागेषु प्रकल्पयेत् ।
रा[71] एकसप्तत्यक्षरं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 29 ।।

शोभनं सर्ववर्णानामेवमेव न संशयः ।
हा[74] चतुःसप्ततिमं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 30 ।।

आदिसिद्धिदं तथागतमुखोद्भूतम् ।
धू[75] पञ्चसप्ततिमं चैव मात्रि(तृ)का षष्ठमेव च ।। 31 ।।

एष योगवरः श्रेष्ठः सर्वयोगेषु चोत्तमः ।
म्त्रा[76] षट्सप्ततिं चैव मातृका द्वितीयेन तु ।। 32 ।।

सूर्येण भेदयेच्चैव वकारं तत्र योजयेत् ।
नान्यत् परमं शोभनं सप्तसप्तत्यक्षरसंयुक्तम् ।। 33 ।।

न्ध[77] धकारं तत्र योजयेत् शोभनं डाकिनीमतम् ।
का[78] अष्टसप्ततिं चैव द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 34 ।।

एतद्बीजं परं दिव्यं कारणं परमं मतम् ।
पु[81] एकाशीत्यक्षरं चैब चतुर्थान्तस्वरभेदितम् ।। 35 ।।

आदिसिद्धिकरं ह्येतत् सर्वसिद्धिप्रवर्तनम् ।
षा[82] द्वाशीत्यक्षरं चैव तथा द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 36 ।।

इमं तु परमं दिव्यं मूलमन्त्रं विदुर्वराः ।
आलयं सर्वसिद्धीनां डाकिनीनां हृदयमर्द्दनम् ।। 37 ।।

पाँचवें पटल में उपर्युक्त मन्त्रों के अक्षरोद्धार के पश्चात् इसके शेष मन्त्र पदों को 'कर कर कुरु करु......' इत्यादि रूप में यथावत् दे दिया गया है। परन्तु भोट अनुवाद में पहले पंचम पटल में इनका अक्षरोद्धार तथा सातवें पटल में स्वर-योजन सम्पन्न कर मन्त्राक्षरों की उद्धार प्रक्रिया बतलायी गयी है। अभिधानोत्तरतन्त्र संस्कृत पाठ में भी भोट पाठ के अनुरूप यही प्रक्रिया दर्शाई गई है। अतः यहाँ क्रमशः अक्षरोद्धार एवं स्वरयोजन क्रम का उल्लेख करते हुए मन्त्र-निष्पत्ति का स्वरूप बतलाया जा रहा है।

क[84] र[85]	**प्रथमस्य प्रथमं चैव अन्तस्थानां द्वितीयमेव च ।**
क[86] र[87]	**द्वितीयस्य प्रथमं तथा षष्ठस्यापि द्वितीयकम् ॥1॥**
क[88] र[89]	**प्रथमस्य प्रथमं चैव अन्तस्थानां द्वितीयं तथा ।**
क[90] र[91]	**द्वितीयस्य प्रथमं तथा षष्ठस्यापि द्वितीयकम् ॥2॥**
व[92] न्ध[93]	**षष्ठस्यापि चतुर्थं तु चतुर्थस्य पञ्चमं चतुर्थेन त्वासनम्।**
व[94] न्ध[95]	**अन्तस्थानां चतुर्थं तु चतुर्थस्यापि पञ्चमम् ।**
	चतुर्थेन त्वासनम् ॥3॥
त्र[96] स[97]	**चतुर्थस्यापि प्रथमं वह्निनाधोत्तेजितम् ।**
य[98]	**ऊष्माणां तृतीयं तथा अन्तस्थानां च प्रथमम् ॥4॥**
त्र[99]	**चतुर्थस्य प्रथमं चैव तेजसेन त्वासनम् ।**
स[100] य[-1]	**सप्तमस्य तृतीयकं षष्ठस्यापि यः प्रथमम् ॥5॥**
क्ष[-2] भ[-3]	**क्षाख्यं प्रथमं गृह्य पञ्चमस्य चतुर्थकम् ।**
य[-4] क्ष[-5] भ[-6] य[-7]	**अन्तस्थानां यः प्रथमं पुनस्तत्पिण्डं गृह्य ॥6॥**
हु[-8]	**ऊष्माणां चतुर्थं गृह्य सप्तमस्य चतुर्थकम् ।**
हु[-9]	**वज्रसत्त्वेन भेदितम् ॥7॥**
हुः[-10]	**ऊष्माणां चतुर्थं चैव भास्करेण त्वासनम् ।**
हुः[-11]	**सप्तमस्य चतुर्थं वह्निना अधोत्तेजितम् ।**
	विसर्गेण समायुक्तम् ॥8॥

फ[-12] फ[-13] पञ्चमस्य द्वितीयं च तथा द्वाविंशमेव च ।
फ[-14] ट[-15] पञ्चमस्य द्वितीयं तथा एकादशमं चैव ।। 9 ।।
फ[-16] ट[-17] द्वाविंशतिमं पुनर्गृह्य तृतीयस्य प्रथमं तथा ।

द[-18] ह[-19] चतुर्थस्य तृतीयं तु ऊष्माणां चतुर्थं चैव ।
द[-20] ह[-21] चतुर्थस्य तृतीयकं सप्तमस्य चतुर्थम् ।। 10 ।।

प[-22] च[-23] एकविंशतिं ततो हृत्य द्वितीयस्य तु प्रथमम् ।
प[-24] च[-25] पञ्चमस्य प्रथमं चैव द्वितीयस्य षष्ठमक्षरम् ।। 11 ।।

भ[-26] क्ष[-27] पञ्चमस्य चतुर्थं तु तथा कृषाख्यमेव च ।
भ[-28] क्ष[-29] चतुर्विंशतिं ततो हृत्य पुनः पिण्डं तु कथ्यते ।। 12 ।।

ब(व)[-30] स[-31] पञ्चमस्य तृतीयकं तु ऊष्माणां तु तृतीयकम् ।
र[-32] ध[-33] अन्तस्थानां द्वितीयं वै चतुर्थस्य चतुर्थकम् ।
र[-34] भास्करं पुनर्दद्यात् ।। 13 ।।

न्त्र[-35] विंशत्यक्षरं समादाय षोडशेनासनं ततः ।
वह्निनाऽधो दीपितम् ।
म[-36] ल[-37] पञ्चमस्य तु पञ्चमम् अन्तस्थानां तृतीयकम् ।। 14 ।।

ब[-38] ल[-39] पञ्चमस्य तृतीयकं षष्ठस्यापि तृतीयकम् ।
म्व[-40] अन्तस्थानां चतुर्थं तु पञ्चविंशतिभेदितम् ।
न[-41] चतुर्थस्य तु पञ्चमम् 15 ।।

ग्र[-42] ह्ल[-43] द्वितीयस्य तृतीयं तु सूर्यपुत्रेण भेदितम् ।
ऊष्माणां चतुर्थं चैव प्रथमस्य तृतीयकम् ।
ग्र[-44] ह्ल[-45] तेजासनं तथा सप्तमस्य चतुर्थकं पञ्चदशेनासनौ द्वौ ।। 16 ।।

स[-46] स[-47] ऊष्माणं(णां) तृतीयं चैव पञ्चमस्य प्रथमम् ।
षोडशेन त्वासनम् ।

प[-48] त[-49] एकविंशतिं ततो गृह्य चतुर्थस्य प्रथमं तथा ।
ल[-50] अन्तस्थानां तृतीयं चैव ।। 17 ।।

ग[-51] त[-52] प्रथमस्य तृतीयं चैव चतुर्थस्यापि प्रथमं तथा ।
भ[-53] चतुर्विंशति तथा पुनः ।
ज[-54] ग[-55] द्वितीयस्य तृतीयकं प्रथमस्य तृतीय[क]म् ।। 18 ।।

स[-56] र्प[-57] ऊष्माणां तृतीयं चैव एकविंशतिमं तथा ।
ब[-58] भास्करेण समाक्रान्तं पञ्चमस्य तृतीयकम् ।
त[-59] र्ज[-60] चतुर्थस्य यः प्रथमं द्वितीयस्य तृतीयकम् ।
य[-61] तेजेन तु दीपितं अन्तस्थानां प्रथमं विदुः ।। 19 ।।

त[-62] र्ज[-63] ततः षोडशसमादाय द्वितीयस्य तृतीयकम् ।
य[-64] वह्निना मूर्ध्नि दीपितं तथा षड्विंशमेव च ।। 20 ।।

अ[-65] क[-66] प्रथमस्य प्रथमं [तथा] द्वितीयस्य प्रथमम् ।
द्ड[-67] तृतीयस्य चतुर्थं त्रयोदशेनासनौ द्वौ ।
अ[-68] क[-69] प्रथमस्य प्रथमं तथा द्वितीयस्य प्रथमम् ।
द्ड[-70] तथा चतुर्दशमं चैव ।। 21 ।।

ह्[-71] ऊष्माणं(णां) तु चतुर्थकं सप्तविंशेनासनम् ।
ह्[-72] यकारस्याष्टमं बीजं भास्करेण तु दीपितम् ।। 22 ।।

ज्ण[-73] द्वितीयस्य तृतीयं तु पञ्चदशेनासनम् ।
ज्ण[-74] द्वितीयस्य तृतीयं तु पञ्चदशमारूढम् ।। 23 ।।

क्ष्म[-75] क्षाख्यबीजसंहृत्य पञ्चविंशत्यासनम् ।
क्ष्म[-76] पिण्डं संहृत्य शोभनं मकारकृतासनम् ।। 24 ।।

ह[-77] ह[-78] ऊष्माणं(णां) चतुर्थं चैव सप्तमस्य च चतुर्थकम्।
ह[-79] ह[80] यवर्गाच्चाष्टमं बीजं तथा त्रयस्त्रिंशमेव च ।। 25 ।।

ह$^{-81}$ ह$^{-82}$ **पञ्चात्मकं समुद्धृत्य पुनः तृतीयं द्वितीयं तु अत्र वै।**
क$^{-83}$ ल$^{-84}$ क$^{-85}$ ल$^{-86}$ **द्वितीयस्य प्रथमं अन्तस्थानां तृतीयं तु ।**
स$^{-87}$ ल$^{-88}$ स$^{-89}$ ल$^{-90}$ **ऊष्माणां तु तृतीयकं तथा अष्टविंशतिमम् ।। 26 ।।**

ह$^{-91}$ ल$^{-92}$ ह$^{-93}$ ल$^{-94}$ **सप्तमस्य चतुर्थकं षष्ठस्य तृतीयम् ।**
ध$^{-95}$ ल$^{-96}$ ध$^{-97}$ ल$^{-98}$ **चतुर्थस्य चतुर्थकं षष्ठस्य तृतीयम् ।**
द्वौ द्वौ पदचतुष्टयम् ।। 27 ।।

इसके पश्चात् सातवें पटल में स्वर-संयोजन का क्रम बतलाया गया है। यह क्रम भी मूल संस्कृत पाण्डुलिपि में नहीं दिया गया है। भोटग्रन्थ में इसका पाठ उपलब्ध है तथा अभिधानोत्तर तन्त्र में भी उसी क्रम में उपलब्ध है। स्वर-संयोजन में मन्त्रों का उद्धार इस प्रकार सम्पन्न होता है।

कु^{88} मातृकापञ्चमेनैव तथाऽष्टाशीत्यक्षरम्। मातृकापञ्चमेनैव नवाशीत्यक्षरम्।
रु^{89} कु^{90} मातृकापञ्चमेनैव तथा नवति अक्षरम्। मातृकापञ्चमेन तु एकनवत्य-
रु^{91} क्षरम् ।। 1 ।।

त्रा^{96} मातृकाद्वितीयेनैव षण्णवत्यक्षरम्। स्वराणां द्वितीयेन तु एकोनशतमक्षरम्।
त्रा^{99} त्रासनं सर्वदुष्टानां मातृणां (मन्त्रिणां) च सुखावहा(हम्) ।। 2 ।।

क्षो$^{-2}$ स्वराणां त्रयोदशेनैव संयुक्तं [1]द्वितीयाक्षरम्। मातृकात्रयोदशेनैव संयुक्तं
क्षो$^{-5}$ पञ्चमाक्षरम्। क्षोभणं सर्वदुष्टानां डाकिनीनां सुखावहम् ।। 3 ।।

ह्रौं$^{-8}$ स्वराणां चतुर्दशेनैव संयुक्तमष्टमाक्षरं पञ्चदशेन पूजितम्। स्वराणां चतुर्दशे-
ह्रौं$^{-9}$ नैव युक्तं नवमाक्षरं बिन्दुना मूर्ध्नि लाञ्छितम्। हर्षणं साधकानां तु
डाकिनीनां विशेषतः ।। 4 ।।

फें$^{-12}$ स्वराणामेकादशेन संयुक्तं द्वादशाक्षरं बिन्दुना मूर्ध्नि लाञ्छितम्।
फें$^{-13}$ स्वराणामेकादशेन संयुक्तं त्रयोदशाक्षरं बिन्दुना च विभूषितम्। त्रासनं
सर्वभूतानां साधकानां हितैषिणम् ।। 5 ।।

---

1. एक सौ के पश्चात् 101-102 के लिए पुनः एक और दो संख्या से प्रारम्भ किया है।

रु$^{-32}$ स्वराणां पञ्चमेनैव संयुक्तं द्वात्रिंशत्यक्षरम्, स्वराणां तृतीयेन संयुक्तं
धि$^{-33}$ रा$^{-34}$ त्रयस्त्रिशत्यक्षरम्, मात्राद्वितीयेन संयुक्तं चतुस्त्रिशत्यक्षरम्, स्वराणां
मा$^{-36}$ ला$^{-37}$ द्वितीयेन तु संयुक्तं षड्त्रिंशत्यक्षरम्, आद्यद्वितीयेन तु संयुक्तं सप्तत्रिंशत्य-
क्षरम् ।। 6 ।।

म्वि$^{-40}$ स्वराणां तृतीयेन तु संयुक्तं चालीशाक्षरम्, मातृका एकादशेन संयुक्तं
ने$^{-41}$ एकचालीशमाक्षरम् ।। 7 ।।

ग्रि$^{-42}$ स्वराणां तृतीयेन संयुक्तं द्वाचालीशाक्षरम्, स्वराणां तृतीयेन संयुक्तं
ग्रि$^{-44}$ चतुश्चालीशाक्षरम् ।। 8 ।।

पा$^{-48}$ मातृकाद्वितीयेनैव संयुक्तमष्टचालीशाक्षरम्, स्वराणां द्वितीयेन संयुक्तं
ता$^{-49}$ एकोनपञ्चाशाक्षरम् ।। 9 ।।

भु$^{-53}$ मातृकापञ्चमेनैव संयुक्तं त्रिपञ्चाशाक्षरम्, चतुःपञ्चाशाक्षरं बिन्दुना
जं$^{-54}$ गं$^{-55}$ विभूषितम्। पञ्चपञ्चाशाक्षरं मूर्ध्नि बिन्दुना लाञ्छितम् ।। 10 ।।

पं$^{-57}$ सप्तपञ्चाशमक्षरं बिन्दुना मूर्ध्नि लांछितम्। द्वितीयस्वरयोजितमष्ट-
बा$^{-58}$ पञ्चाशमक्षरम् ।। 11 ।।

आ$^{-65}$ स्वराणां द्वितीयेनैव संयुक्तं पञ्चषष्ट्यक्षरम्। मातृकाद्वितीयेनैव संयुक्तं अष्ट-
आ$^{-68}$ षष्ट्यक्षरम्। आकर्षयेत् सर्वसिद्धीनां [साधकानां] श्रियं ददः ।। 12 ।।

ह्रीं$^{-71}$ मातृकाचतुर्थेनैव संयुक्तं एक सप्ततिमाक्षरम्, बिन्दुना विभूषितम्, स्वराणां
ह्रीं$^{-72}$ चतुर्थेनैव संयुक्तं द्वासप्तत्यक्षरम्। सर्वसत्त्ववशीकारं बिन्दुना समा-
क्रान्तम् ।। 13 ।।

ज्णौं$^{-73}$ मातृकाचतुर्दशं तु युक्तं त्रिसप्तत्यक्षरं तथा पञ्चदशान्वितम्, स्वराणां
ज्णौं$^{-74}$ द्वितीयेनैव (चतुर्दशेनैव) संयुक्तं चतुःसप्तत्यक्षरम् ।। 14 ।।

क्ष्मां$^{-75}$ मातृकाद्वितीयेनैव संयुक्तं पञ्चसप्तत्यक्षरं बिन्दुना विभूषितम्। मातृका
क्ष्मां$^{-76}$ द्वितीयेनोक्तं (न युक्तं) षट्सप्तत्यक्षरम्। बिन्दुना च द्वौ लाञ्छितौ ।। 15 ।।

हां[-77] मातृकाद्धितीयेनोक्तं (न युक्तं) सप्तसप्ततिमाक्षरम्, मातृकाचतुर्थेनैव (द्वितीयेनैव
हां[-78] युक्तं) अष्टसप्ततिमाक्षरं बिन्दुना समाक्रान्तमस्तकम्।। 16।।

हीं[-79] स्वराणां चतुर्थेनैव (युक्तं) ऊनाशीति [अशीतिः] तथैव च।
हीं[-80] [बिन्दुना विभूषितम्]।। 17।।

हूं[-81] हूं[-82] स्वराणां षष्ठमेव [युक्तं] उत्पत्तिर्वाजिराजस्य बिन्दुना
विभूषितम्।। 18।।

[-83]किलि[-84] [-85]किलि[-86] [-87]सिलि[-88] [-89]सिलि[-90] [-91]हिलि[-92] [-93]हिलि[-94] [-95]धिलि[-96] [-97]धिलि[-98]

स्वराणां तृतीयेनैव संयुक्तं षोडशाक्षरम्। शत ऊर्ध्वं त्वक्षराणां अष्टनवति संख्यया। श्रीहेरुकनाथेन कोष्ठादिदं समुद्धृतम्।। 19।।

इस मन्त्र के प्रारम्भ में ॐ तथा अन्त में हूँ फट् का संयोजन करना है। इस प्रकार यह पूर्ण मन्त्राक्षरों का उद्धार होने पर मन्त्र निम्नलिखित रूप में निष्पन्न होता है—

ॐ नमो भगवते वीरेशाय। महाकल्पाग्निसंनिभाय। जटामकुटोत्कटाय। दंष्ट्राक्रा-लोग्रभीषणमुखाय। सहस्रभुजभासुराय। परशुपाशोद्यतशूलखट्वांगधारिणे। व्याघ्रजिनाम्बर-धराय। महाधूम्ब्र(म्रा)न्धकारवपुषाय।

कर कर कुरु करु वन्ध वन्ध त्रासय त्रासय क्षोभय क्षोभय ह्रौं ह्रौं ह्रः ह्रः फें फें फट् फट् दह दह पच पच भक्ष भक्ष वसरुधिरान्त्रमालाबलम्विने। ग्रिह्ण ग्रिह्ण सप्तपातालगतभुजंगं सर्पं बा तर्जय तर्जय आकढ्ड आकढ्ड ह्रीं ह्रीं ज्णौं ज्णौं क्ष्मां क्ष्मां हां हां हीं हीं हूं हूं किलि किलि सिलि सिलि हिलि हिलि धिलि धिलि हूं फट्।

मुरजबन्धमन्त्रोद्धार

चक्रसंवरतन्त्र के तीसवें पटल में विद्याराजमन्त्र की उद्धारविधि बतलायी गयी है। इसे मुरजबन्ध मन्त्रोद्धार कहा गया है। स्वर एवं व्यञ्जनों की संख्या एवं वर्गों का ग्रहण पूर्ववत् किया गया है। सम्भवतः मन्त्रोद्धार के पश्चात् इन्हें मुरजाकृति में प्रस्तारित करना होगा। इस मन्त्र के चार पद हैं और मन्त्र में सभी पदों के प्रारम्भ में ॐकार तथा हूं फट्कार अन्त में संयोग करना है। यहाँ पूर्व की भाँति पहले अक्षरोद्धार फिर स्वरयोजन

की प्रक्रिया न अपनाकर सीधे आलि-कालि वर्गों से मन्त्र की निष्पत्ति बतलाई गई है। तदनुसार इसका क्रम निम्नवत् है[1] —

सु	कोष्ठाद् द्वात्रिंशतिं संगृह्य पञ्चमेन तु भेदितम् ।।6।।
म्भ	शतार्द्धार्द्धं समादाय चतुर्विंशति भेदितम् ।
नि	कोष्ठकं षट्त्रिंशतिमं कोष्ठत्रयेण भेदितम् ।।7।।
सु	द्वात्रिंशत्ततो गृह्य पञ्चमेन तु भेदितम् ।
म्भ	पञ्चविंशत्ततो गृह्य चतुर्विंशति योजितम् ।।8।।
हुँ	त्रयस्त्रिंशं समादाय कोष्ठपञ्चदशार्चितम् ।
	पञ्चमेन समायुक्तं शोभनं परमं मतम् ।।9।।
फट्	द्वाविंशतिसमायुक्तं सप्तविंशतिमेव च ।
	एतत्सर्वं समादाय प्रथमं पदमुच्यते ।।10।।
ग्रि	कोष्ठकादेकोनविंशतिमं वह्निपुत्रेण समायुक्तम् ।
	कोष्ठतृतीयेन भेदितं साक्षरं भवेत् ।।11।।
ह्ण	यवर्गाच्चाष्टमं बीजं कोष्ठषट्त्रिंशेन योजितम् ।
ग्रिह्ण	पुनरेवं पदञ्चैव सर्वकामार्थसाधकः ।।12।।
हुं	स्वयम्भुं ततो गृह्य कोष्ठात् पञ्चमसंयुक्तम् ।
	बिन्दुना ऊर्ध्वभूषितं सर्वार्थसाधकं नाम ।
	द्वितीयं पदमुच्यते ।।13।।
ग्रि	एकोनविंशतिकोष्ठं तु सप्तविंशेन भेदितम् ।
ह्णा	तृतीयेन तु संयुक्तं त्रयस्त्रिंशत्समादाय ।
	कोष्ठद्वितीयेन तु ।।14।।
	विंशकेन समायुक्तं शोभनं परमं हितम् ।
पय	एकविंशतिकोष्ठं तु तथा षड्विंशसंयुतम् ।।15।।

1. देखें - तालिका-1

ग्रिह्लापय द्विरभ्यासपदश्चैव उद्धरेत्सुसमाहितः ।
विलोमेन ततो गृह्य कोष्ठात्प्रथमं च वै ।। 16 ।।

हुँ चतुर्थान्तेन संयुक्तं तथा पञ्चदशार्चितम् ।
धर्मार्थमोक्षकामानां तृतीयपदमुच्यते ।। 17 ।।

आन कोष्ठाद् द्वितीयबीजं तु षट्त्रिंशति कोष्ठकात् ।
य तथा षड्विंशमेव च ।
हो त्रयस्त्रिशं समादाय कोष्ठत्रयोदशार्चितम् ।। 18 ।।

भ कोष्ठाद्दशमं चैव विलोमेन तु साधकः ।
ग अकाराधिष्ठितात् कोष्ठादेकोनविंशतिमं तथा ।। 19 ।।

ककाराधिष्ठितात् कोष्ठात् त्रयोविंशतिकोष्ठकात् ।
बां द्वितीयकोष्ठसंयुक्तं बिन्दुना ऊर्ध्वभूषितम् ।। 20 ।।

व पार्थिवं तु ततो गृह्य अष्टमं तु पुनस्तथा ।
ज्र अग्निपुत्रेण भेदयेद् हूंफट्कारान्तयोजिता ।। 21 ।।

एतत्त्रैलोक्यविजयं नाम मन्त्रपदैश्चतुर्भूषितम् ।
ॐकारदीपकाः सर्वे हुँफट्कारान्तयोजिताः ।
विद्याराजमन्त्रोऽयं न भूतो न भविष्यति ।। 22 ।।

उपर्युक्त प्रक्रिया से निम्नलिखित मन्त्राक्षर निष्पन्न होते हैं—

ॐ सुम्भ निसुम्भ हुं हुं फट् फट्।
ॐ ग्रिह्ण ग्रिह्ण हुं हुं फट्।
ॐ ग्रिह्लापय ग्रिह्लापय हुं हुं फट्।
ॐ आनय हो भगबां वज्र हुं हुं फट् फट्।

तत्त्वज्ञानसंसिद्धि में उद्धृत मन्त्रोद्धार

तत्त्वज्ञानसंसिद्धि आचार्य शून्यसमाधिवज्र की रचना है। इनका प्रारम्भिक नाम दिवाकरचन्द्र था। इन्होंने अपने गुरु पैण्डपातिक (अवधूतीपाद) की अनुमति न मिलने पर

भी इसकी रचना की। इस क्रम में अपने इष्टदेव की साधना के लिए जो मन्त्र हैं, उसे मन्त्रोद्धारविधि नामक पटल में निर्देश किया है। तदनुसार जो मन्त्र निःसृत होता है, वह है—**ॐ ॐ ॐ सर्वबुद्धडाकिनीये वज्रवर्णनीये वज्रवैरोचनीये हुँ हुँ हुँ फट् फट् फट् स्वाहा।**

मन्त्रोद्धार में आलिकालि के 49 वर्णों को ग्रहण कर धर्मोदय की तरह त्रिकोण में संव्यवस्थित रूप से प्रस्तारित करना है। व्यञ्जनों में क्ष का यहाँ भी उल्लेख नहीं है, इसे क्+ष का संयुक्त व्यञ्जन ही माना है। इस प्रकार सर्वप्रथम 49 वर्णों को धर्मोदयाकार त्रिकोण में न्यास करना है। इसका क्रम विधु (भोट=रूप), दहन, बाण, मुनि, नव (भोट=द्वार), शंकर, मदन, अर्थात् एक, तीन, पाँच, सात नौ, ग्यारह और तेरह के क्रम में रखना है। इस प्रकार वरटक में 'अ' तथा मध्य में 'ह' का न्यास है। 'अ' देवी का और 'ह' भगवान् हेरुक का सूचक है। तदनुसार जो स्वरूप बनता है, वह निम्नलिखित रूप में होगा—

तालिका-2

ग ख क अः अं औ ओ ऐ ए ॡ ऌ ॠ ऋ

घ प न ध द थ त ण ढ ड ऊ

ङ फ ष श व ल र ठ उ

च ब स ह य ट ई

छ भ म ञ इ

ज झ आ

अ

मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया इस प्रकार बतलायी गयी है—

अ उ म	**झाधरगं डाधरस्थं हाधरगविभूषितं समायुक्तम् ।**
ॐ ॐ	**त्रिकमादितो विलिख्य सदक्षरं तत्त्वपरिदीपितम् ।।**
सर्ब (र्व)	**भोर्ध्वगतं छोर्ध्वस्थितसमेतं टोर्ध्वस्थितं तदनुलेख्यम् ।**
बुद्ध	**डाधरयुतं षाधरगं षोर्ध्वस्थितयुक्तशोर्ध्वगतम् ।।**
डाकि	**ञाधरयुतलृतलस्थं टाधरयुतपोर्ध्वसंस्थितं तदनु ।**
नीये	**ठाधरगान्वितफोर्ध्वगम् ऐवामयुतं हटान्तस्थम् ।।**
बज्र	**चसमध्यगतं ठसव्यगसमेतं भाधरसंस्थितम् ।**
वर्ण	**तदनु हथमध्यगतं तवामगसंयुक्तं ठलमध्यगं पश्चात् ।।**
नी	**सर्वकलान्तफमध्यं तृतीयवर्गादिवामगसमेतम् ।**
ये बज्र	**णोर्ध्वयुतं लाधरगं छोर्ध्वस्थं भतलगं ठसव्ययुतम् ।।**
वैरो	**तोर्ध्वगयुतं थाधरगं थोर्ध्वसंयुक्तं णाधरगं पश्चात् ।**
चनीये	**फाधरगं ठाधरयुतं फोर्ध्वस्थं णोर्ध्वयुतं लाधरगम् ।।**
हुँ हुँ हुँ फट्	**डाधरशून्यसमेतं त्रिवतलगं चोर्ध्वस्थितं रतलम् ।**
स्वा	**थाधरयुतं शाधरगं ञाधरगसमायुक्तं चापि ।।**
हा	**सयमध्यगं झवामगसमेतमुक्ताक्षरकृतो रहस्यः ।**
	मन्त्रोऽयमशनिदेव्या लेख्यो जाप्यो विभाव्यश्च ।।

इस प्रस्तारित यन्त्र से उपर्युक्त मन्त्राक्षर इस प्रकार निःसृत होते हैं—झाधरगं अर्थात् झकार के नीचे स्थित अक्षर अकार को ग्रहण करना है। फिर डकार के नीचे स्थित उकार को तथा हकार के नीचे स्थित वर्ण मकार को ग्रहण करना है। इससे अ+उ+म=ॐ अक्षर का उद्धार हुआ। इसे इस मन्त्र के प्रारम्भ में तीन बार ॐ ॐ ॐ लिखना है। ये तीन ॐकार कायवाक्चित्त के द्योतक हैं। इसके पश्चात् भकार के ऊपर स्थित सकार, छकार के ऊर्ध्व स्थित बकार तथा टकार के ऊर्ध्व स्थित रकार को ग्रहण करना है। इनसे **'सर्ब'**

(सर्व) शब्द की निष्पत्ति होती है। डकार के नीचे स्थित उकार को षकार के नीचे स्थित बकार में जोड़ना है और फिर षकार के ऊपर स्थित धकार में शकार के ऊर्ध्व स्थित दकार जोड़ना है। इस प्रकार '**बुद्ध**' शब्द निष्पन्न होता है।

लृकार के नीचे स्थित डकार में ञकार के नीचे स्थित आकार को जोड़ना है, फिर टकार के नीचे स्थित इकार को पकार के ऊर्ध्वस्थित ककार में संयुक्त करना है। फकार के ऊपर स्थित नकार में ठकार के नीचे स्थित ईकार को युक्त करना है तथा ऐकार के वाम में स्थित एकार को हकार और टकार के मध्य स्थित यकार में जोड़ना है। इस प्रकार मन्त्राक्षर '**डाकिनीये**' निष्पन्न होते हैं।

चकार और सकार के मध्य स्थित बकार (वकार) को ग्रहण कर भकार के नीचे स्थित जकार में ठकार के दक्षिण में स्थित अक्षर रकार को जोड़ना है। इससे मन्त्राक्षर '**बज्र**' (वज्र) का उद्धार होता है। तदनन्तर थकार और हकार के मध्यगत वकार को ग्रहण कर तकार के वाम स्थित णकार में ठकार और लकार के मध्यस्थ रकार को विभूषित करना है। फिर अःकार और फकार मध्य स्थित नकार में तृतीय वर्ग के आदि अक्षर टकार के वाम में स्थित ईकार को जोड़ना है तथा णकार के ऊर्ध्व अक्षर एकार को लकार के अधः स्थित यकार में संयोग करना है। इसके फलस्वरूप मन्त्राक्षर '**वर्णनीये**' सम्पन्न होते हैं।

छकार के ऊर्ध्व स्थित बकार को ग्रहण कर भकार के तलस्थ जकार में ठकार के दक्षिण स्थित रकार को जोड़ना है। अनन्तर तकार के ऊर्ध्वस्थ ऐकार को थकार के नीचे स्थित वर्ण वकार से संयुक्त करना है तथा थकार के ऊपर स्थित ओकार को णकार के नीचे स्थित रकार में जोड़ना है। फकार के तलस्थ चकार को ग्रहण कर ठकार के नीचे स्थित ईकार को फकार के ऊपर स्थित नकार में संयोग करना है और णकार के ऊर्ध्व स्थित एकार को लकार के नीचे स्थित यकार में संयोग करना है। इस प्रकार '**बज्र (वज्र) वैरोचनीये**' मन्त्राक्षर निष्पन्न होते हैं।

डकार के नीचे स्थित उकार को बिन्दु अर्थात् अनुस्वार (चन्द्रबिन्दु) सहित वकार के तलस्थ हकार में संयोग करना है। मन्त्राक्षर '**हुँ**' निःसृत हुआ। इसकी तीन आवृत्ति करनी है अर्थात् '**हुँ हुँ हुँ**' लिखना है। इसी प्रकार चकार के ऊर्ध्व स्थित फकार

और रकार के तलस्थ टकार को ग्रहण करना है। इससे मन्त्राक्षर '**फट्**' निष्पन्न होता है। पूर्व की भाँति इसकी भी तीन बार आवृत्ति करनी है अर्थात् '**फट् फट् फट्**'।

अब थकार के नीचे स्थित वकार में शकार के तलस्थ सकार को संयुक्त करना है तथा इसी में ञकार के नीचे स्थित आकार को भी जोड़ना है। फिर सकार और यकार के मध्यस्थ हकार में झकार के वामस्थ आकार का संयोग करना है। इस प्रक्रिया से '**स्वाहा**' शब्द की निष्पत्ति होती है। इस सम्पूर्ण पद्धति से जिस मन्त्र का उद्धार होता है वह है—**ॐ ॐ ॐ सर्वबुद्धडाकिनीये वज्रवर्णनीये वज्रवैरोचनीये हुँ हुँ हुँ फट् फट् फट् स्वाहा**।

वज्रभैरवतन्त्र में उद्धृत मन्त्रोद्धार

वज्रभैरवतन्त्र के तृतीय पटल में वज्रभैरव के मन्त्रों का उद्धार करने की प्रक्रिया दी है। मन्त्रों में मूलमन्त्र, सर्वकर्मकरमन्त्र और हृदयमन्त्र हैं। तदनुसार जो अक्षर निःसृत होते हैं, वही मूलमन्त्र हैं[1]—

ॐ य म रा जा स दो मे य य मे दो रु ण यो द य।
य द यो नि र य क्षे य य क्षे य च्च नि रा म य।। फट् फट्।

सर्वकर्मकरमन्त्र है—

ॐ ह्रीः ष्ट्रीः विकृतानन हूँ फट्।

हृदयमन्त्र है—

ॐ यमान्तक हूँ फट्।

मूलमन्त्र की उद्धारप्रक्रिया निम्नलिखित है—

य म **षष्ठस्य यः प्रथमः पञ्चमस्यापि पञ्चमम् ।**
रा **षष्ठस्य द्वितीयं द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 1।।**

---

1. वि० प्र० 4.188, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, भाग-2, मन्त्रपाद-47 पटल।

जा	द्वितीयस्य तृतीयं पुनर्द्वितीयस्वरयोजितम् ।
स दो	सप्तमस्य तृतीयं च चतुर्थस्य तृतीयम् ।। 2 ।।
मे	त्रयोदशस्वरयोजितं पञ्चमस्यापि पञ्चमम् ।
य य	एकादशस्वरयोजितं षष्ठप्रथमद्विगुणितम् ।। 3 ।।
मे	पञ्चमस्यापि पञ्चमं एकादशस्वरमाक्रान्तम् ।
दो	चतुर्थस्य तृतीयं त्रयोदशस्वरमाक्रान्तम् ।। 4 ।।
रु	षष्ठस्य द्वितीयकं पञ्चमस्वरयोजितम् ।
ण यो	तृतीयस्य पञ्चमं वायुबीजं ततो दद्यात् ।
	त्रयोदशस्वरयोजितम् ।। 5 ।।
द य	चतुर्थस्य तृतीयं वायुबीजं ततः परम् ।
य द	षष्ठस्य प्रथमं चतुर्थस्य तृतीयकम् ।। 6 ।।
यो	वायुबीजं ततः पुनः त्रयोदशस्वरयोजितम् ।
नि	चतुर्थस्य पञ्चमं [तृतीयस्वरयोजितम्] ।। 7 ।।
र य	अग्निबीजं ततो दद्यात् वायुबीजं तथैव च ।
क्षे	वर्णान्तं ततो दद्यात् एकादशस्वरयोजितम् ।। 8 ।।
य य	षष्ठस्य प्रथमं वायुबीजं ततो भवेत् ।
क्षे	वर्णान्तं ततो दद्यात् एकादशस्वरयोजितम् ।। 9 ।।
य च्च	वायुबीजं ततो दद्यात् द्वितीयस्य प्रथमं द्विगुणितं तच्च कारयेत् ।
नि	चतुर्थस्य पञ्चमं तृतीयस्वरयोजितम् ।
रा	अग्निबीजं ततो दद्यात् द्वितीयस्वरयोजितम् ।। 10 ।।
म य	पञ्चमस्यापि पञ्चमं वायुबीजं ततो दद्यात् ।
ॐ	आद्यवैरोचनं दद्यात् परमेश्वरयोजितम् ।। 11 ।।

फट् फट् **पञ्चमस्य द्वितीयं तृतीयस्य प्रथमं द्विरुक्तं कारयेद्बुधः।। 12।।**

ॐ ह्रीः ष्ट्रीः विकृतानन हूँ फट्। इसे सर्वकर्मकरमन्त्र कहा गया है। इसकी उद्धारपद्धति निम्नलिखित रूप में वर्णित है—

ह्रीः **सप्तमस्य चतुर्थञ्च चतुर्थस्वरयोजितम् ।**
अग्निबीजं ततो दद्यात् षोडशान्तं ततो विभुः ।।

ष्ट्रीः **सप्तमस्य द्वितीयं चतुर्थस्वरयोजितम् ।**
तृतीयस्य प्रथमं अग्निरूपमधो निवेशयेत् ।।

वि **षोडशान्तं ततो विभुः षष्ठस्य चतुर्थं तृतीयस्वरयोजितम्।**
कृ **प्रथमस्य प्रथमं सप्तमस्वरयोजितम् ।।**

ता **चतुर्थस्य प्रथमं द्वितीयस्वरयोजितम् ।**
न न **चतुर्थस्यापि पञ्चमं द्विगुणं कारयेद्बुधः ।।**

ॐ हूँ **आद्यं वैरोचनं दद्यात् यवर्गस्याष्टमं बीजम् ।**
षष्टस्वरेण योजितं बिन्दुमस्तकभूषितम् ।
फ ट् **पञ्चमस्य द्वितीयं तृतीयस्य प्रथमम् ।।**

हृदयमन्त्र है **ॐ यमान्तक हूँ फट्**। इसकी उद्धारविधि निम्नलिखित रूप में बतलायी गयी है—

य मां **षष्ठस्य प्रथमं पञ्चमस्यापि पञ्चमम् ।**
त **द्वितीयस्वरभेदितं तस्यापि पञ्चमात् त्रिकम् ।।**
मस्तके न्यसेत् चतुर्थस्यापि प्रथमम् ।
क ॐ **प्रथमस्य प्रथमं आद्यं वैरोचनं दद्यात् ।।**
हूँ **स्मरणं(?) तथान्तके शून्यादेव समाक्रान्तम् ।**
फ ट् **पञ्चमस्य द्वितीयकं तृतीयस्य प्रथमम् ।।**

वज्रभैरव, यमान्तक एवं यमारि सभी एक ही श्रेणी के देव हैं। अतः सभी में यह मन्त्र व्यवहृत होते हैं।

हेवज्रतन्त्रोद्धृत मन्त्रोद्धारपद्धति

हेवज्रतन्त्र में प्रथमकल्प का द्वितीय पटल मन्त्रपटल तथा द्वितीयकल्प का नवम पटल मन्त्रोद्धार पटल है। द्वितीय पटल में अनेक मन्त्रों का उल्लेख किया है, जैसे—सार्वभौतिकबलिमन्त्र, पुरक्षोभमन्त्र, हेवज्रद्विभुज, चतुर्भुज एवं षड्भुज का मन्त्र, हेवज्र का हृदयमन्त्र और भूमिशोधन मन्त्र आदि। यहाँ सभी मन्त्रों के विस्तार में जानने की आवश्यकता नहीं है। हेवज्रतन्त्र में मन्त्रोद्धारपद्धति में यह विशेषता है कि पूर्व की भाँति वर्णों को कवर्गादि सात वर्गों से गृहीत किया जाता है, परन्तु स्वर वर्णों के लिए यहाँ हेवज्रतन्त्र के मण्डल की उन देवियों का नामोल्लेख हुआ है, जो स्वरों की प्रतिनिधि स्वरूप हैं। जैसे—नैरात्म्या=अ, वज्रा=आ, गौरी=इ, वज्रडाकिनी=उ, पुक्कसी=ऊ, चौरी=ए, वेताली=ऐ, घस्मरी=ओ, खेचरी=अं इत्यादि। ॐकार के लिए यहाँ अनेक पर्याय व्यवहृत हैं, यथा—वर्णाधिप, वर्णेश्वर, वैरोचन, वर्णज्येष्ठ इत्यादि।

इसकी मन्त्रोद्धारपद्धति के उदाहरण स्वरूप यहाँ कुछ मन्त्रों की उद्धारप्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है, जैसे हेवज्र का हृदय मन्त्र—

ॐ दे	**ॐकारादि चतुर्थस्य तृतीयं चौरीभूषितम् ।**
व पिचुवज्र	**अन्तस्थानां चतुर्थकं पिचुवज्रयोजितम् ।।**
हूं-3	**ऊष्माणां च चतुर्थकं पुक्कस्याश्च विभूषितम् ।**
फट् स्वाहा	**शून्याक्रान्तं त्रिगुणितं पञ्चमस्य द्वितीयकम् ।।**
	तृतीयस्य प्रथमं स्वाहान्तम् ।

हेवज्रस्य हृदयम्।। (2.9.26-27)

उपर्युक्त पद्धति से हेवज्र का हृदयमन्त्र निष्पन्न होता है—"**ॐ देव पिचुवज्र हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा**"।

इसी प्रकार चतुर्भुज (हेवज्र) का मन्त्रोद्धार निम्नलिखित रूप में है—

ॐ ज्वलज्वल	**वैरोचनादि ज्वलज्वलयोजितम् ।**
भ्	**पञ्चमस्य चतुर्थं तु ।**
यो	**अन्तस्थानां प्रथमेन युक्तं घस्मरीभूषितम् ।।**

हुँ-3	**ऊष्माणां च चतुर्थकं वज्रडाकिनीभूषितम् ।**
फट्	**शून्याक्रान्तं त्रिगुणितं पञ्चमस्य द्वितीयकम् ।**
स्वाहा	**तृतीयस्य प्रथमं स्वाहान्तम् ।**

चतुर्भुजस्य मन्त्रः ।। (2.9.28-29)

इस पद्धति से "**ॐ ज्वलज्वलभ्यो हुँ हुँ हुँ फट् स्वाहा**" चतुर्भुज हेवज्र के मन्त्र का उद्धार सम्पन्न होता है। इसी प्रक्रिया से यहाँ हेवज्र से सम्बद्ध अनेक मन्त्रों की उद्धार-पद्धति का उल्लेख किया गया है।

मन्त्रोद्धार में शुद्ध शब्दों के प्रयोग की समस्या

उपर्युक्त प्रक्रिया से जब हम मन्त्रोद्धार सम्पन्न करते हैं तो कुछ मन्त्राक्षर शुद्ध संस्कृत प्रयोग की दृष्टि से समीचीन प्रतीत नहीं होते। उन्हें संस्कृत की दृष्टि से शुद्ध करना क्या उपयुक्त होगा? इस पर विचार अपेक्षित है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण उपर्युक्त प्रक्रिया में दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ मन्त्राक्षर हैं, जैसे—गृह्ण गृह्ण के प्रसंग में, जैसा कि बतलाया गया है कि—द्वितीयस्य तृतीयं तु=ग, सूर्यपुत्रेण भेदितम्=ग्र। ऊष्माणां चतुर्थं चैव=ह, प्रथमस्य तृतीयकं=ग, तेजासनं तथा=ग्र, सप्तमस्य चतुर्थकं=ह, पञ्चदशेनासनौ द्वौ=ह्ण ह्ण। इस प्रकार पहली प्रक्रिया से ग्रह्ण ग्रह्ण रूप निष्पन्न होता है। इसमें इनके मन्त्राक्षर संख्या 42, 43, 44 तथा 45 हैं। अनन्तर स्वरसंयोजन में कहा है—स्वराणां तृतीयेन संयुक्तं द्वाचालीशाक्षरम्=ग्रि। स्वराणां तृतीयेन संयुक्तं चतुश्चालीशाक्षरम्=ग्रि। अब जिस मन्त्राक्षर का उद्धार हुआ है, वह इस प्रकार है—ग्रिह्ण ग्रिह्ण। जबकि शुद्ध संस्कृत में गृह्ण गृह्ण है। तीसवें पटल में ग्रिह्ण के स्थान पर ग्रिह्न तथा ग्रिह्नापय का उद्धार मिलता है। जैसे—"एकोनविंशति कोष्ठं तु सप्तविंशेन भेदितम्। त्रयस्त्रिंशत्समादाय कोष्ठद्वितीयेन तु, विंशकेन समायुक्तं शोभनं परमं हितम्। एकविंशति कोष्ठं तु सप्तविंशेन भेदितम्"=ग्रिह्नापय।

एक दूसरी समस्या ब एवं व के प्रयोग की है। जैसे सर्पं वा के स्थान पर 'सर्पं बा' तथा भगवान् के स्थान पर भगबाँ या 'वज्र' के स्थान पर बज्र की। यह समस्या दोनों प्रकार की पद्धतियों में मिलती है उदाहरण स्वरूप तत्त्वज्ञानसंसिद्धि में 'वज्र' की निष्पत्ति इस प्रकार दी है—"चसमध्यगतं ठसव्यगसमेतं भाधरसंस्थितम्" अर्थात् चकार और सकार के मध्य बकार को ग्रहण करना है तदुपरान्त भकार के अधः स्थित 'जकार' में ठकार के दक्षिण स्थित 'रकार' जोड़ना है। इस प्रकार 'बज्र' शब्द की निष्पत्ति होती है। जबकि

शुद्ध संस्कृत प्रयोग 'वज्र' है। इसी प्रकार चक्रसंवर के तीसवें पटल में मन्त्राक्षर भगवान् की निष्पत्ति 'भगबां' होती है। जैसे—

भ कोष्ठाद्दशमं चैव विलोमेन तु साधकः ।
ग अकाराधिष्ठितात् कोष्ठात् एकोनविंशतिमं तथा ।। 19।।

ककाराधिष्ठितात् कोष्ठात् त्रयोविंशति कोष्ठात् ।
बां द्वितीयकोष्ठसंयुक्तं बिन्दुना ऊर्ध्वभूषितम् ।। 20।।

अर्थात् विलोम से दसवाँ अक्षर=भ, फिर अकार से उन्नीसवाँ अक्षर=ग तथा ककार से 23वाँ बकार, द्वितीयकोष्ठक अर्थात् आकार से संयुक्त और ऊर्ध्व में बिन्दु विभूषित=भगबां। अतः इस प्रकार के प्रयोगों के युक्तायुक्त पर विचार अपेक्षित है।

इस सन्दर्भ में मन्त्रों में प्रयुक्त हुँ एवं हूँ अर्थात् ह्रस्व एवं दीर्घ के प्रयोग की भी समस्या है, परन्तु इस सम्बन्ध में तत्त्वज्ञानसंसिद्धि टीकाकार वीर्यश्रीमित्र का वचन अवधेय है—वह कहते हैं शबरपाद के साधन के प्रसंग में हूँकार दीर्घ का प्रयोग है, परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में भिन्न साधन होने से ह्रस्व हुंकार का प्रयोग में कोई विवाद नहीं है—''यद्यपि श्रीमच्छबरपादीयसाधनप्रक्रियायां हूंकारत्रयमभ्युपेतं तथापि भिन्नसाधनत्वादत्र ह्रस्वस्वीकारोऽप्यविवाद एव (पृ० 60)। तो क्या इसी प्रकार वकार के स्थान पर बकार एवं गृह्ण के स्थान पर ग्रिह्ण या ग्रिह्न का प्रयोग भी तत् तत् साधन प्रक्रियाओं के कारण अविवादित माना जाय?

चक्रसंवरतन्त्र के अष्टपद मन्त्रों में आठवां मन्त्र ''महाधूम्रान्धकारवपुषाय'' है। मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया से जो मन्त्राक्षर निष्पन्न हुआ वह है 'महाधूम्व्रान्धकार'। क्या धूम्रान्धकार के स्थान पर ''धूम्व्रन्धकार'' प्रयोग भी विकल्प से संभव है, जिसे साधनप्रक्रिया या पद्धति में अपनाया गया अपनी विशेषता मानी जाय?

उपसंहार

इस प्रकार प्रायः सभी तन्त्रों के मूलमन्त्र, हृदयमन्त्र, मालामन्त्र, उपहृदयमन्त्र इत्यादि के उद्धार की प्रक्रिया उद्धृत मिलती है। इस मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया से हम यथासम्भव शुद्ध मन्त्र का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। यद्यपि यह प्रश्न अनुत्तरित सा

रह जाता है कि मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया का निर्माण पहले हुआ या मन्त्र पहले निष्पन्न हुए? तत्त्वज्ञानसंसिद्धि यत: आचार्य शून्यसमाधिपाद की रचना है, उससे विदित होता है कि वज्रयोगिनी या वज्रवाराही के मन्त्र को सुन्दरतापूर्वक छन्दों में रखकर मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया बनायी है। जबकि शेष तन्त्रों के सम्बन्ध में हम नहीं कह सकते, क्योंकि यह पद्धति उस विशिष्ट तन्त्र के अन्तर्गत पटलों में ही उद्धृत है। तन्त्र ग्रन्थ एवं उनके विषय अत्यन्त गूढ़ एवं गम्भीर हैं और अनभिषिक्त के लिये गोपनीय भी। इसलिये अनधिकारी व्यक्ति द्वारा इदं इत्थं रूप में निष्कर्ष देना समीचीन प्रतीत नहीं होता। यहाँ मात्र उपलब्ध साहित्य में वर्णित तथ्यों को विद्वानों के समक्ष विवेचन के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

•

अनुत्तरतन्त्र में वज्रदेह की अवधारणा

—वङ्छुग दोर्जे नेगी—

[बौद्धतन्त्रों में साधना के दो क्रम हैं—उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम। इस साधना की पराकाष्ठा निष्पन्नक्रम है। प्रस्तुत लेख में निष्पन्नक्रम की साधना का आधार वज्रदेह एवं उन तत्त्वों की चर्चा की गई है, जिनसे यह साधना पूर्ण होती है। इस निष्पन्नक्रम साधना के लिए आधारभूत तत्त्वों, यथा—बोधिचित्त, शून्यता, करुणा, नाडी, (अवधूती, ललना और रसना), वायु और तिलक आदि पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।]

निष्पन्नक्रम का आधार

बोधिचित्त—तन्त्रशास्त्र में बोधिचित्त, निजचित्त, तन्त्र, सूक्ष्मप्राणचित्त आदि नाम पर्याय होने से बोधिचित्त और बोधि का चित्त दोनों में बहुत अन्तर पड़ता है। बोधिचित्त तो सभी सत्त्वों में विद्यमान है, लेकिन बोधि का चित्त नहीं। क्योंकि यह चैतसिक धर्म है, जो आगन्तुक है। यही श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान से बोधिसत्त्व को अलग करता है। बोधि का चित्त उत्पन्न होने पर ही साधक बोधिसत्त्व बनता है तथा बोधिसत्त्वयानी कहलाता है।

परार्थ की सिद्धि हेतु बोधि की चाह ही बोधि का चित्त है। परार्थ की कामना और तदर्थ सम्यक्सम्बोधि की कामना यह दोनों चैतसिक धर्म हैं, क्योंकि चित्त तो सामान्य रूप से सभी धर्मों में समभाव से आलम्बन करता है, जबकि कामना उसी धर्म विशेष का आलम्बन है। अतः बोधि का चित्त चैतसिक हो सकता है, चित्त नहीं। अभिप्रायवश इस उभय कामना को हम चित्त की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि इन दो कामनाओं में जितनी तीव्रता आये साधक उतना ही बोधि के समीप पहुँचेगा और बोधिचित्त का विकास होगा। शास्त्रों में बोधिचित्त के दो भेद बताये गये हैं—संवृति बोधिचित्त और परमार्थ बोधिचित्त। संवृति बोधिचित्त के स्वरूपगत दो भेद हैं। बोधिचर्यावतार में कहा गया है—

तद्बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः ।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च ।। (1.15)

प्राणिमात्र के लिये बोधि की कामना करना प्रणिधानचित्त और तदर्थ दस पारमिताओं की चर्या करना प्रस्थानचित्त है। इन दो भेदों को वहीं उपमा देकर इस प्रकार समझाया गया है—

गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते ।
तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो यथासंख्येन पण्डितैः ।। (1.16)

वज्रयान में जिस बोधिचित्त की अवधारणा है, वह बोधि का चित्त न होकर बोधिचित्त ही है, जो साधनामूलक तत्त्व ही नहीं, अपितु साध्यमूलक भी है। गुह्यसमाज में तन्त्र के स्वरूप, आश्रय, मार्ग और फल के भेद से समझाया है कि (फल) असंहार्य आश्रय ही मार्ग है, मार्ग ही फल है, जो मात्र अवस्था का भेद है। वही बोधिचित्त भी है। गुह्यसमाज ने बोधिचित्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शून्यता और करुणा का अभिन्न रूप ही बोधिचित्त है।

शून्यता—पारमितानय में शून्यता के बाह्यशून्यता, आभ्यन्तरशून्यता, बाह्याभ्यन्तर उभयशून्यता, शून्यताशून्यता, परमार्थशून्यता आदि 4, 16, 18 और 20 भेद किये हैं। धर्मों का युक्तियों द्वारा विश्लेषण करने पर वे अन्ततः निःस्वभाव रह जाते हैं। धर्मी के भेद से शून्यता में भेद किये जाते हैं। शून्यता का स्वरूप पारमितानय के विद्वान् कुछ प्रसज्य निषेधात्मक मानते हैं, तो कुछ विद्वान् पर्युदास प्रभास्वर स्वरूप। लेकिन वज्रयान में शून्यता निष्प्रपञ्च पर्युदास स्वरूप ही प्रतीत होती है, क्योंकि पितृतन्त्र के ग्रन्थों में आलोक आदि तीन और प्रभास्वर नामक चौथे ज्ञान द्वारा क्रमशः शून्यता के शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य नामक चार भेदों का साक्षात्कार होना माना गया है। प्रथम आलोक ज्ञान द्वारा शून्यता का साक्षात्कार होने पर राग से सम्बन्धित 40 विकल्पों का क्षय, द्वितीय आलोकाभास ज्ञान द्वारा अतिशून्यता के बोध होने पर द्वेष से सम्बन्धित 33 विकल्पों का और आलोकोपलब्धि ज्ञान द्वारा अतिशून्य का बोध करते समय मोह से सम्बन्धित 7 विकल्पों का क्षय होता है। इन तीन ज्ञानों के द्वारा शून्यता बोध में सूक्ष्म द्वैत बचा रह जाता है। अन्तिम प्रभास्वर ज्ञान द्वारा सर्वशून्यता का बोध होने पर ही अद्वय परमार्थ का साक्षात्कार होता है। दूसरी ओर मातृतन्त्र में बताया गया है कि चार विषयी आनन्दों द्वारा क्रमशः चार शून्यताओं का बोध होता है और इस अवस्था को विपाक आदि चार क्षणों में विभक्त किया जाता है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि प्रभास्वरचित्त में विकल्पों के सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म रूपों का लय हो जाने पर प्रभास्वर की अद्वय अवस्था ही अन्तिम अवस्था है, जो पर्युदास स्वरूप ही हो सकती है, यही वज्रयान की शून्यता का स्वरूप है।

यह जान लेना आवश्यक है कि इसकी निष्प्रपञ्चता में पारमितानय और वज्रयान में अन्तर नहीं होता।

कालचक्र और सेकोद्देश आदि अद्वयतन्त्र के ग्रन्थों में शून्यता को सर्वाकारवरोपेत कहा है। शून्यता रूप है, क्योंकि वायु के मध्यमा नाड़ी अर्थात् तिलक में स्थित होने पर बाहर मरीचि, धूम, खद्योत, दीप आदि आभास प्रकट होते हैं और ये सब क्रमशः स्पष्ट होते हुए कालचक्र देव के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि बाह्यार्थ में प्रकट देव बाह्य नहीं है, वह प्रभास्वर निजचित्त का स्वरूप ही है। अतः प्रभास्वर से अभिन्न है और प्रभास्वर (अक्षरसुख) यहाँ परमार्थ है तथा विषय रूप में प्रकट देवकाय संवृति है। संवृति रूप रहते हुए भी ये स्वभावतः प्रभास्वर से अभिन्न है। दूसरी ओर हम अक्षरसुख की अनुभूति आदि को भी संवृति कह सकते हैं, क्योंकि यह कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि के सेवन से उत्पन्न एवं अभिमुख हुआ है। जो भी हो, मायाकाय और प्रभास्वर का युगनद्ध रूप ही फल है। करुणा, प्रभास्वर और अक्षरसुख नाम पर्याय हैं। शून्यता, मायाकाय, सर्वाकारवरोपेत नाम पर्याय हैं[1]।

करुणा—पारमितानय में जैसे शून्यता मात्र शून्य होती है, वैसे ही करुणा मात्र करुणा है। बुद्धकपालतन्त्र में पारमितानय के शून्य को कुछ इस प्रकार कहा है—ज्ञान (चतुर्थाभिषेक) के अभाव में शून्यता सन्तानहीन गृहस्थ के समान है, अर्थात् मात्र शून्य है। उसी प्रकार करुणा भी मात्र करुणा है। वस्तुतः शून्यता और करुणा का अद्वयभाव अपेक्षित है, क्योंकि करुणा और अक्षरसुख नाम पर्याय हैं। महासुख या करुणा के द्वारा शून्यता के प्रकट होने पर ही वह प्राणियों का हित करती है। करुणा ही महाराग है। महाराग और शून्यता की अभिन्नता ही वज्रयान का करुणा रूप है। शून्यता और करुणा के अद्वयस्वभाव बोधिचित्त का अवबोध करने के लिये पारमितानय और मन्त्रनय में अनेक उपाय वर्णित हैं। उनमें अनुत्तरतन्त्रों में उपदिष्ट नाड़ी, वायु और तिलक के मर्म को समझना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। अतः यहाँ इन तत्त्वों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा।

वज्रदेह—पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र के निष्पन्नक्रम की भावनाविधियों में अनेक मत-मतान्तर हैं, लेकिन जहाँ तक संवृति स्वाधिष्ठानक्रम और परमार्थ प्रभास्वर के अभिन्न रूप युगनद्ध की प्राप्ति का लक्ष्य है, इन में समान है। यही निष्पन्नक्रम की साधना का आधार वज्रदेह, नाड़ी, वायु और तिलक पर अधिकार प्राप्त करना भी समान रूप से

---

1. ज्ञेयकोश, जि० 1, पृ० 220

मान्य है। वज्रदेह क्या है? 36 स्कन्धों का समूह ही वज्रदेह है[1]। यह मात्र कामधातु में संभव है, रूपधातु और अरूपधातु में नहीं, क्योंकि रूपधातु में आकाश, वायु, अग्नि, क्षिति, जलधातु आदि कुछ ही रहती है और अरूपधातु में 36 स्कन्धों में मात्र आकाशधातु, विज्ञानधातु आदि रहते हैं, सम्पूर्ण नहीं। अतः अनुत्तरतन्त्र का साधक कामधातु का सत्त्व ही हो सकता है, रूप-अरूप धातु का नहीं, क्योंकि कामधातु में ही वे 36 स्कन्धों तथा 6 धातुओं से सम्पन्न हो सकते हैं। छः धातुओं को स्पष्ट करते हुए संवरोदयतन्त्र में कहा गया है—

त्वङ्मासकं च रक्तं च मातृजा इति कथ्यते ।
स्नायुमज्जा च शुक्रं च पितृजा इति कथ्यते ।
एवं षट्कौशिकं पिण्डं वज्रसत्त्ववचो यथा ।। (2.28-29)

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मज्जा और शुक्र, इन छः धातुओं से सम्पन्न यह काय ही निष्पन्नक्रम का परिशोध्य है। इसे समलनिर्माणकाय भी कहते हैं[2]।

नाड़ी—जैसे पट ताना और बाना का समूह है, उसी प्रकार हम लोगों का शरीर भी नाड़ियों का जाल एवं समूह है। संवरोदयतन्त्र में हमारे शरीर में 72000 नाड़ियों के होने की बात कही गयी है। उनमें उष्णीष में 32 नाड़ियों का समूह, कण्ठचक्र में 16, हृदयकमल में 8 और नाभिचक्र में 64, कुल 120 नाड़ियाँ प्रमुख हैं। संवरोदयतन्त्र में कहा गया है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीचक्रं यथाक्रमम् ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यो देहानुगा भवेत् ।।

---

1. षट्स्कन्ध - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और ज्ञान।
षड्धातु - क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान।
षडिन्द्रिय - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन।
षड्विषय - रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म।
षट् कर्मेन्द्रिय - मुख, हाथ, पैर, लिङ्ग, विष्टिद्वार और शुक्रद्वार।
षट् कर्मेन्द्रिय विषय - बोलना, लेना, जाना, मल, मूत्र और शुक्र का संक्रमण, ये 36 स्कन्ध कहलाते हैं। (ज्ञेयकोश, जि०, 2, पृ० 633)

2. महासङ्गी महासुखचक्रे च महासुखं के स्थितं यतः । (हे० तं० 2.4.60)
भूमयो दशमासाश्च सत्त्वा दशभूमीश्वराः ।। (हे० तं० 2.4.64)

नाडिका उपनाडीनां तासां स्थानं समाश्रिताः ।
विंशोत्तरशतं नाम नाडीप्राधान्यमुच्यते ।। (7.1-2)

पुनः इसके अतिरिक्त नख, दाँत और शरीर आदि को संबर्द्धित करने वाली उष्णीष आदि 24 स्थानों में स्थित नाड़ियाँ भी प्रमुख मानी जाती हैं[1]। वहीं कहा है—

नाडीस्थानं च पीठं च चतुर्विंशत्प्रमाणतः ।
तेषां मध्ये त्रयो नाड्य आश्रयन्ति च सर्वगाः ।। (7.3)

इनमें अवधूती, ललना और रसना ये तीन प्रधानतम नाड़ियाँ हैं।

अवधूती—अवधूती, मध्यमा, ब्रह्मदण्ड, राहु, शंखिनी आदि नाम पर्याय हैं। सामान्यतः अवधूती नाड़ी को कुछ आचार्य काल्पनिक और अन्य अतिसूक्ष्म (अश्वकेश सदृश सूक्ष्म) मानते हैं। कहीं अवधूती के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने का वर्णन मिलता है, तो अन्यत्र उष्णीष से लेकर रीढ़ की हड्डी के साथ होते हुए नाभिक्षेत्र से चार अंगुल नीचे तक, तो कहीं गुह्येन्द्रिय के अग्र तक तथा कहीं पादतल[2] तक अवधूती के होने की चर्चा आती है। नाड़ीचक्रों की संख्या भी कहीं चार तो कहीं छः मिलती है।

रङ्जुङ दोर्जे का मत है कि जैसे ज्ञान का मूल मध्यमा (निष्प्रपञ्चता) है, उसी प्रकार भव का मूल भी महाप्राण नाड़ी है। वे कहते हैं कि 24000 चन्द्र एवं शुक्रवाहिनी नाड़ी ललना है, 24000 सूर्य एवं शोणितवाहिनी नाड़ी रसना है तथा 24000 वायुवाहिनी नाड़ी मध्यमा है। हेवज्र में अवधूती को स्पष्ट करते हुए कहा है—

अवधूती मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता । (1.1.14)

सभी धर्मों की अन्तिम सत्ता चतुष्कोटि निष्प्रपञ्च प्रभास्वर ही है अर्थात् ग्राह्यग्राहक विवर्जित मध्यमा अवस्था में स्थित होना, अथवा विकल्पों को विगलित कर मध्यमा में प्रवेश एवं स्थिति लाभ करने मात्र को ही मध्यमा नाड़ी नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार ललना और रसना को विषय और विषयी अर्थात् द्वैतभाव को नहीं कहा जा सकता। क्या

---

1. अभेद्या, ऊष्मा, कूर्मजा, दिव्या, दोषा, भाविकी, मातरा, वामा, वामिनी, शर्बरी, शीतदा, सूक्ष्मा, सेका ये ललना से उत्पन्न 14 नाड़ियाँ हैं। कृष्णवर्णा, पावकी, प्रवणा, प्रेम्णी, वियोगा, सामान्या, सिद्धा, सुमना, सुरूपिणी, हेतुदायिका ये 10 रसना से उत्पन्न नाड़ियाँ हैं।
2. महामन्त्रक्रम में उपदेशमञ्जरी का वचन उद्धृत कर स्पष्ट किया है (पृ० 414)।

वास्तव में हमारे शरीर में स्थूल या सूक्ष्म रूप में नाड़ी स्थित है? यदि नाड़ीचक्र और मध्यमा आदि प्रधान नाड़ियाँ वर्णितानुसार हैं तो क्यों इसकी भावना मात्र अपने शरीर को इष्टदेव में परिणत करने के बाद ही की जाती है? जो विचारणीय है। लेकिन संवरोदयतन्त्र[1], हेवज्रतन्त्र[2], सम्पुटोद्भवतन्त्र[3], कालचक्रतन्त्र[4], वज्रवाराहीरहस्यतन्त्र[5] और ज्ञानोदय[6] आदि अनेक तन्त्रों में ललना, रसना और अवधूती नाड़ी के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

---

1. संवृत्ता मध्यभागेन हृत्सरोरुहमध्यगा ।
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।।
तैलवह्निरिवादीप्ता बोधिचित्तसमावहा ।
सावधूती विज्ञेया सहजानन्ददायिका ।
प्रधान्यस्ताः सर्वनाडीनां ललनाद्यास्तु नाडिकाः ।।
अत एवाश्रयोऽन्यासां गङ्गासिन्धुपरापगाः ।
ता एव योनिनाड्यः स्युरेकीभूताः खगाननाः ।। (7.17-19)

2. ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता ।
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।। (1.1.14-15)

3. हृदयमध्यपद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
तस्य मध्यगता नाडी तैलवह्निस्वरूपिका ।।
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।
तस्य मध्ये स्थितो वीरः सर्षपस्थूलमात्रकः ।।
हूंकारोऽनाहतं बीजं स्रवत्तुषारसन्निभम् ।
वसन्तमिति विख्यातो देहिनां हृदिनन्दनः ।।
वडवानलरूपा तु नैरात्मा तिलका स्मृता ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती नाभिमण्डले ।
वसन्तं प्राप्य सन्तुष्टा समापत्त्या व्यवस्थिता ।। (नाडीचक्रपटल 6.2)

4. तस्योर्ध्वं हृत्प्रदेशे वसुदलकमले संस्थितं नाडिचक्रं
प्राणाद्यं वायुवृन्दं रविशशिशिखिनो वामसव्ये च मध्ये ।
वामे नाडी शशाङ्को वहति खलु सिता दक्षिणे रक्तसूर्या
मध्ये कालाग्निरूपा प्रवहति विषुवे हीननिःश्वासषष्टिः ।। (2.41)

5. द्र०-वज्रवाराही० षष्टपटल।

6. ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ।।
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।
तैलवह्निरिवोद्दीप्ता बोधिचित्तसमावहा ।
सावधूती सुविज्ञाय(ता) सहजानन्ददायिका ।। (28-30)

रसना और ललना नाड़ी—अवधूती के दाहिनी ओर से रसना तथा बाईं ओर से ललना ये दोनों नाड़ियाँ नाभि से चार अंगुल नीचे विश्लिष्ट होकर नाभि प्रदेश में गुर्दे की महानाड़ी से सम्बद्ध होती हैं। इसके बाद यहाँ से ये पुनः हृदय की दाहिनी ओर रसना और वाम दिशा में ललना से सम्बद्ध होती हैं। तदनन्तर ये कक्षपुट के अधोभाग में हृदय की महानाड़ी से सम्पृक्त होकर कण्ठचक्र में सन्निपतित होती हैं और कृकाटिकानाड़ी से होकर कान के अधोभाग के छिद्र से होती हुई वृक्षनाड़ी के साथ मस्तक से होकर मूर्धा के ब्रह्मरन्ध्र से सम्बद्ध होती हैं। इस प्रकार ये दो नाड़ियाँ सभी इन्द्रिय द्वारों में व्याप्त हैं। विशेष कर नाक के दोनों छिद्रों में ये दोनों नाड़ियाँ ऊर्ध्व शिखर होती हैं। नीचे भाग में तीन नाड़ियों के मिलने से निर्मित चतुष्पथ से विश्लिष्ट होकर स्थित दक्षिण नाड़ी रसना के निचले शिखर द्वारा स्त्री गर्भाशय स्थित रक्त का स्राव तथा पुरुष स्त्री दोनों के मल-संधारण एवं त्याग-कृत्य को सम्पन्न करती हैं[1]। ललना और रसना नाड़ी के स्वरूप और कृत्य को स्पष्ट करते हुए हेवज्रतन्त्र पञ्जिका रत्नावली[2] सम्पुटोद्भवतन्त्र[3] और संवरोदय[4] आदि[5] तन्त्रों में कहा है कि ललना शुक्रवाहिनी और रसना रक्तवाहिनी है। ललना और रसना उष्णीषचक्र से लेकर गुह्येन्द्रिय चक्र तक अवधूती से आलिङ्गित रहती हैं।

वायु—गुह्यसमाज की व्याख्यातन्त्र वज्रमाला के 12वें पटल में 108 वायुओं का वर्णन आया है[6]। उनमें प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान वायु प्रमुख हैं तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय अंग वायु कहलाते हैं[7]। कालचक्र में इन दस वायुओं के कृत्य इस प्रकार वर्णित हैं—

प्राणोऽपानः समानः कमलवसुदले मारुतश्चाप्युदानो
व्यानो नागश्च कूर्मोऽथकृकरपवनो देवदत्तो धनञ्जः ।

---

1. नाड़ी की संरचना, आकार, चक्रों का स्वरूप, संख्या, स्थिति आदि पर विस्तार से व्याख्या हुई है। (गम्भीराभ्यन्तरार्थ, प० 49-65, तृतीय पटल, ति० सं० रङ्जुङ् दोर्जे रचित)
2. अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवहा ख्याता। (प्रथम पटल की टीका राष्ट्र० अभि० का०, पाण्डु० संख्या 5/98)
3. ललना अतृप्ता च स्वभावेन वामपार्श्वे अक्षोभ्यावहा ।
   रसना सर्वरसं ददाति कवलयति वा दक्षिणपार्श्वे रक्तवहा ।। (सम्पुट०, द्वितीय प्रकरण)
4. तेषां मध्ये स्थिता नाड़ी ललना मूत्रवाहिनी ।
   दक्षिणे रसना ख्याता नाडी रक्तवाहिनी ।। (7.16)
5. द्र०-नाड़ी, वायु, तिलक पर बृहद् प्रकाश। (ज्ञे० को०, जि०, 2, पृ० 631-645)
6. तो० 445, प० (208-277) 12वाँ पटल।
7. प्राणभूतश्च सत्त्वानां वाय्वाख्यः सर्वकर्मकृत् ।
   विज्ञानवाहनश्चैष बुद्धत्वपदमाप्नुयात् ।। (संवरो० 6.11-12)

इत्येवं नाडिचक्रे दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः
शंखिन्यन्तं त्विडाद्यं स्वहृदयकमलं नाभिचक्रं समस्तम् ।।

प्राणः प्राणं करोत्यर्कशशिपथगतस्त्वन्नपानं समस्तम्
अपानो नेत्यधस्तात् सकलरससमं नेति काये समानः ।
काये स्पन्दत्युदानोमुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति
व्यानो व्याधिं करोति प्रकृतिगुणवशाद्गात्रभङ्गं तथैव ।। (2.42-43)

हमारे शरीर में रहने वाला महाप्राण वायु ही सभी अन्य वायुओं का मूल एवं आधार है। इसके अभाव में प्राणी जीवित नहीं रह सकते। यह हृदयकमल में रहता है। प्रतिदिन एक स्वस्थ मनुष्य 21600 श्वास-उच्छ्वास लेता है। इसी महाप्राण से उत्पन्न हुए अन्य वायुओं के स्थानभेद और कृत्य भेद को स्पष्ट करते हुए आर्यदेव ने भी कहा है कि अपान नाभि के अधोभाग में तीन नाड़ी समूह द्वारा पिण्डीकृत स्थान में रहता है। यह मल, मूत्र, शुक्र, शोणित, कषायरस धातु आदि का विसर्जन करता है, निःसरण और संकलन करता है। समानवायु नाभिक्षेत्र में रहता है। यह वायु जैसे माली कुंए के पानी से पेड़-पौधों को सींचता है, उसी तरह सारे अन्नपान को पचाता है, कषाय रसों को अलग करता है तथा सभी रसों को नाड़ी स्थानों में ले जाकर शरीर का पोषण करता है। उदान वायु कण्ठचक्र में स्थित है। यह खाये-पीये अन्न-जल का विभाग करता है, गमनागमन, वाक् द्वारा संगीत की चेष्टा आदि इसी वायु से होती है। व्यान वायु शरीर के सभी अंगों तथा ग्रन्थियों में स्थित रहता है। इस वायु का मुख्य कृत्य देह में शक्ति का प्रसार करना है। विमलप्रभा में भी इसके स्थानों और कृत्यों का वर्णन मिलता है[1]। निम्नलिखित श्लोक में बहुत संक्षेप में इसके स्थानों का वर्णन है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।

नाग, कूर्म आदि अंग वायुओं को चर, विचर, सम्यक् चर, प्रचर और निचर भी कहा जाता है। ये चक्षु आदि पाँच इन्द्रियज्ञानों को उत्पन्न करनेवाले वायु हैं। पंचक्रम में भी इसका निर्देश है—

वायुना सूक्ष्मरूपेण ज्ञानं संमिश्रतां गतम् ।
निःसृत्येन्द्रियमार्गेभ्यो विषयानवलम्बते ।। (3.32)

---

1. विमलप्रभा, अध्यात्म पटल, पृ० 179-182, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, 1986

इन पाँच अंग वायुओं के स्थान, कृत्य आदि को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—नागवायु दक्षिण बाहुमूल के नाड़ीदल से होकर संचरित होता है। इस नाड़ी का एक शिखर चक्षु में धंसा रहता है। इस वायु का मुख्य कृत्य रूप ग्रहण करना है। कूर्म वायु हृदय के पृष्ठ भाग में स्थित जया नाड़ीदल से संचरित होता है। इसका एक शिखर कान में धंसा होता है। इस वायु का मुख्य कृत्य शब्द ग्रहण करना है, हाथ-पैर का स्फुरण भी इसी का कृत्य है। कृकर वायु वाम बाहुमूल (स्कन्ध) कन्धा में स्थित नाड़ीदल अलम्बुषा से संचरित होता है। इसका एक शिखर नासिका में धंसा होता है। इस वायु का मुख्य कृत्य गन्ध ग्रहण करना, क्रुद्ध होना तथा क्षुब्ध होना आदि है। देवदत्त वायु हृदय की वामदिशा ललना नाड़ी तथा मेष लग्न नाड़ी से संचरित होता है। इसका एक शिखर जिह्वा में धंसा होता है। इस वायु का मुख्य कृत्य रस ग्रहण करना तथा जंभाई लेना है। धनंजय वायु वाम स्तन की कुहूनाड़ी से संचरित होता है। इस नाड़ी का शिखर उपजिह्वा के मध्य तथा रोम के सभी छिद्रों में धंसा होता है। इस वायु का मुख्य कृत्य स्पर्श ग्रहण करना है। इस वायु की विशेषता यह बताई गई है कि मृत शरीर में भी कुछ समय तक यह बना रहता है। उपर्युक्त सभी वायु महाप्राण वायु के ही अंग हैं। मात्र देश और कृत्य की भिन्नताओं से अलग-अलग नाम दिये गये हैं। श्वास-प्रश्वास के काल में अन्तिम एक को छोड़कर चार वायु नाक के दायें-बायें अलग-अलग दोनों छिद्रों से समान रूप से तथा कम-ज्यादा बहते रहते हैं। व्याख्यातन्त्र वज्रमाला में पंचतथागत कुल, पाँच वर्णों तथा पाँच धातुओं[1] के साथ जोड़कर इसका वर्णन इस तरह किया गया है—

नासाग्रे सर्षपं नाम प्राणायामस्य कल्पनात् ।
प्राणायामे स्थिताः पञ्चरश्मयो बुद्धभावतः ।।
ऊर्ध्वं घ्राणाद् विनिष्क्रान्तो वामदक्षिणद्वन्द्वतः ।
अधश्चेति चतुर्धा स्याद् वेला आध्यात्मिकी स्मृता ।। (गु० स० प्र०, पृ० 57)

सर्वदेहानुगो वायुः सर्वचेष्टाप्रवर्तकः ।
वैरोचनस्वभावोऽसौ महावायुः प्रकीर्तितः ।। (संवरो० 5.56)

इस प्रकार यहाँ पाँच प्रधान वायुओं तथा पाँच अंग वायुओं के वर्णन के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि ये सब एक ही प्रधान प्राणवायु के अंग हैं।

---

1. पञ्चज्ञानमयं श्वासं पञ्चभूतस्वभावकम् ।
निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे तु कल्पयेत् ।। (से० टी०, पृ० 30)

तिलक—तिलक का अर्थ महासुख या उसका हेतु है। इसके तीन भेद हैं—

1. मूलनिष्प्रपञ्चतिलक, 2. भ्रान्त अविद्यातिलक और 3. बन्धनकारक द्रव्य, मन्त्र और वायु तिलक[1]।

1. सहजज्ञान ही मूलनिष्प्रपञ्चतिलक है। चित्त की धर्मता (शून्यता) धर्मकाय का बोधक है। चित्त की प्रभास्वरता ही सम्भोगकाय है। चित्त की निरन्तरता निर्माणकाय को स्पष्ट करती है। अत: आद्यन्त रहित त्रिकायात्मक स्वचित्त ही निष्प्रपञ्चतिलक है। चिन्तन करने पर इनका आभास होने लगता है। जैसें कि सभी धर्मों के स्वभाव का विश्लेषण करने पर नि:स्वभाव शून्यता की प्राप्ति होना धर्मकाय का लक्षण है। प्रभास्वर में स्थित होने पर बाह्य-आभ्यन्तर धूम, खद्योत, चन्द्र आदि का आभास होना, सभी धर्मों का प्रभास्वर स्वरूप होना सम्भोगकाय को लक्षित करता है। षड् इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों के अनिरुद्ध स्वरूप को ग्रहण करना निर्माणकाय का लक्षण है।

2. निष्प्रपञ्चतिलक अवस्था में शुक्र और शोणित वायु के संसर्ग से शुक्र ग्राहक और शोणित ग्राह्य के रूप में उत्पन्न होकर विषय-विषयी भाव ग्रहण करते हैं, जो भ्रान्ति एवं अविद्या से जनित है, क्योंकि यह स्वभाव से अद्वय होते हुए भी द्वैत को ग्रहण करने लगते हैं। बन्धन कारक, द्रव्य, मन्त्र और वायुतलिक को परिशोध्य और परिशोधक के रूप में विभक्त कर छ: भेद किये जाते हैं।

(क) बन्धन कारक-अविद्या, संस्कार और विज्ञान द्वारा परिकल्पित कर वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन चार नामों में परिवर्तित होकर नाम-अर्थ उभय का ग्रहणकर्त्ता परिशोध्य आधार मन्त्रतिलक है। इस परिशोध्य आधार नाम-अर्थ (नाम-रूप) का देव भावना, मन्त्रजाप आदि के द्वारा परिशोधन होता है, अत: ये परिशोधक मन्त्रतिलक कहलाते हैं।

(ख) वायुतिलक (बिन्दु) आलम्बनप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और समनन्तरप्रत्यय इन तीनों प्रत्ययों के कारण परतन्त्र चित्त चंचल रहता है और विषयों को ग्रहण करने लगता है। यह वायुकृत परिशोध्य (आधार) वायु (बिन्दु) तिलक है। इनके निरोध का हेतु वायु योग परिशोधक (प्रतिपक्ष) वायुतिलक है।

---

1. गम्भीर आभ्यन्तरार्थ, ति० सं०, प० 88-107, पञ्चम पटल।
इस ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ रङ्जुङ् दोर्जे हैं। इसमें नाड़ी, वायु, तिलक पर बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं विस्तार से वर्णन किया गया है।

(ग) पाँच इन्द्रियों के विषय के रूप में प्रतिभासित होने वाले रूप, शब्द स्कन्धों आदि द्वारा संगृहीत शुक्र शोणित पञ्चधातु परिशोध्य द्रव्यतिलक है। द्रव्यतिलक के परिशोधक प्रतिपक्ष तिलकों में 12 रस और 24 कषाय कुल मिलाकर 36 प्रमुख हैं। पाँच प्रधान वायुओं के संसर्ग से पाँच तिलक, पञ्चाङ्ग वायु के संसर्ग से और ऊर्ध्व तथा अधोभाग में स्थित चन्द्र और सूर्यगत तिलक को मिलाकर 12 रस, तिलक और 24 पीठ स्थानों में कषायतिलक स्थित है। जैसे कि संवरोदयतन्त्र में कहा है—

पुल्लीरमलये शिरसि नखदन्तवहा स्थिता ।
जालन्धरशिखास्थाने केशरोमसमावहा ।।
कुलताजानुद्वयोः स्थित्वा बालसिंहानवाहिनी ।। (7.4, 15)

इसके अतिरिक्त शरीर में जितनी नाड़ियाँ (72000) हैं, उनके कण-कण में भी द्रव्यतिलक समाया रहता है। उनमें अनुत्तरतन्त्र के योगी की साधना का केन्द्रबिन्दु मातृलब्ध रक्ततिलक, जो नाभिक्षेत्र से चार अंगुल नीचे ललना और रसना के मिलन स्थान एवं मध्यमा नाड़ी के अधोभाग में या अप्लुताकार में स्थित तथा ऊर्ध्व उष्णीष कमल में स्थित हंकार अधोमुखी पितृलब्ध शुक्र है। ज्ञानोदयतन्त्र में कहा है—

निर्माणचक्रमध्यस्था प्रज्ञावर्णाग्ररूपिणी ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती सहजात्मिका ।।

विद्युच्छता(त)प्रतीकाशा सुसूक्ष्मा बिसतन्तुवत् ।
विभाव्योत्थापयेन्मन्त्री सद्गुरु(रोरु)पदेशतः ।। (6-7)

सारांश में मध्यमा नाड़ी, अनाहत वायु, निष्प्रपञ्चतिलक, ये तीनों कृत्य के वैभिन्य से अलग कहे गये हैं, तत्त्वतः ये सब निजचित्त, सहजज्ञान या प्रभास्वर ही हैं, जो आद्यन्तरहित हैं। इसे नाड़ी इसलिये कहा गया है कि यह प्राणियों के महाप्राण का आश्रय है। इसके अभाव में मध्यमा, ललना, रसना और अन्य नाड़ियाँ उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं। इसी से शून्य स्वरूप मध्यमा नाड़ी और आलिङ्गित रसना, ललना आदि नाड़ियों का प्रादुर्भाव होता है। यही अनाहत वायु भी है, क्योंकि वायु चित्त के साथ अभिन्न रहता है। चित्त आद्यन्त रहित है। यह क्षय, शाश्वत और उच्छेद से रहित है। अतः उससे अभिन्न वायु भी चित्त सदृश है। इसीलिये इसे अनाहत वायु भी कहा है। महामुद्रातिलक में कहा है प्रभास्वर चित्त के साथ पाँच रश्मि वाली वायु अभिन्न रूप से रहती है। इसी से वायु,

अग्नि, जल और क्षिति आदि क्रमशः उत्पन्न होते हैं। पञ्च रश्मि पञ्चभूत धातु प्रतीत होता है। प्रभास्वर और अनाहत वायु से ही सृष्टि का सृजन होता है। निष्प्रपञ्च प्रभास्वर के साथ वायु की अभिन्नता होने से ही उसमें गति आती है, गति से ही जगत् का सृजन होता है। आज वैज्ञानिकों को पदार्थ (अणु) का विश्लेषण करते समय हम देखते हैं कि वे भी अन्तिम अणु प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन का भी तरंग में तथा वह भी महाशून्य ऊर्जा के रूप जैसा पहुँचते हैं। यह महाशून्य अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव से कभी भी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। अतः यह महाशून्य चेतना भी है और सूक्ष्मवायु से अभिन्न भी, जो इसको गति देता है तथा जगत् को उत्पन्न करता है। इस तरह से जगत् और प्रभास्वर अभिन्न हैं। इसके अभाव में तन्त्रशास्त्र खड़ा नहीं हो सकता। नामसंगीति में भी इसी वायु को श्वास-प्रश्वास, समय, घण्टा, दण्ड, लग्न, स्वर, व्यञ्जन आदि सभी अक्षरों का स्रोत कहा है। यही नहीं सम्यक्सम्बोधि को भी इसी से उत्पन्न कहा है। यह इन सबका उत्स और अभिलाप का आश्रय होते हुए भी स्वयं अनभिलाप्य और अनुत्पाद है।

तद्यथा भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसम्भवः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ।।

महाप्राणो ह्यनुत्पादो वागुदाहारवर्जितः ।
सर्वाभिलापहेत्वग्र्यः सर्ववाक् सुप्रभास्वरः ।। (28.29)

वसन्ततिलक की टीका रहस्यदीपिका में भी 'अ' अक्षर की अनुशंसा करते हुए कहा है कि "अकार इत्यादि महार्थ इति, आद्यनुत्पन्नतत्त्वसूचकत्वात्। वर्गनायक इति, तेनैव तेषां प्राणितत्वात्। ये च देहिनां साधकानां वा ये मन्त्रा वाक्यानि प्रणवादीनि वा तत एव जाता उत्पन्नाः। एवं सर्व एव सत्त्वा मन्त्रपरायणाः स्वभावेनेति स्थितम्" (पृ० 74)। जब तक अभिन्न स्वरूप उक्त तीनों की वस्तुस्थिति को सम्यग् नहीं जानेंगे, तब तक निष्पन्नक्रम की साधना सम्भव नहीं हो सकती, अतः यहाँ संक्षेप में इनका परिचय दिया गया है।

•

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 29वें अंक में 91 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी गई थी, प्रस्तुत अंक में उससे आगे के अन्य 75 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है ।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
वज्रवाराहीमुखाख्यानसंक्षेपसाधन		ASHA	DH-2-73
Vajravārāhīmukhākhyānasaṅkṣepa-sādhana		RAK	Reel No.E. 666/3
वज्रवाराहीहोमविधि		ASHA	DH-332
Vajravārāhīhomavidhi			
वर्तुलाकार-यज्ञविधि		RAK	4/1032
Vartulākāra-yajñavidhi			
वर्षापणयज्ञहोम		MCBMBLJ	KA-24
Varṣāpaṇayajñahoma			
वर्षापणविधि	अभयाकरगुप्त	RAK	3/589
Varṣāpaṇavidhi	Abhayākaragupta	"	3/647
वर्षापणविधिसंग्रह		"	Reel No. A.921/6
Varṣāpaṇavidhisaṁgraha		"	" " A.936/8
वर्षापणसूत्र			
Varṣāpaṇasūtra		ASHA	DH.265

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	7	Comp.	
"	Dev.	35	"	
"	"	(87a-87b)	"	
"	"	Folding Book	"	
"	N	75	"	
"	Dev.	2(176b-177a)	"	
"	"	24	"	
"	N	102	"	
PL	"	54	Incomp.	
NP	"	5	Comp.	
"	"	6	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
वसुन्धराकल्पधारणी Vasundharākalpadhāraṇī		RAK "	4/1030 3/290, A.129/32
वसुन्धरादेश Vasundharādeśa		ASB	82/4880
वसुन्धरानामाष्टोत्तरशतक Vasundharānāmāṣṭottaraśataka		RAK "	Reel No. A.130/3 " " A.59/18
वसुन्धराष्टोत्तरादिसंग्रह Vasundharāṣṭottarādisaṁgraha		"	" " A.132/21
वसुन्धराव्रतमाहात्म्य Vasundharāvratamāhātmya		IASWR	MBB-I-57
वसुन्धरासाधनविधि Vasundharāsādhanavidhi		RAK	4/953

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	14	Comp.	
”	”	31	”	
PL	”	6	”	
NP	”	16	Incomp.	
PL	”	32	Comp.	
NP	”	6		
”	”	11		
”	”	14		

Title	Author	Institution	Ms. No.
विघ्नकीलनविधि Vighnakīlanavidhi		ASHA	DH.171
विद्याधरीक्रमवज्रयोगिनी Vidyādharīkramavajrayoginī		"	DH.332
विंशतिसप्तसप्ततिपूजा Viṁśatisaptasaptatipūjā		IASWR	MBB-II-201
विश्वभद्रबोधिसत्त्वयथाविधिविहारस्थापन Viśvabhadrabodhisattvayathāvidhi-vihārasthāpana		D-2	P.239
व्रतविधिप्रायश्चित्त Vratavidhiprāyaścitta		IASWR	WGS-23

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	27		
"	Dev.	5(62b-66a)	Comp.	
"	N	34		
"	"	57		
"	"	22		

Title	Author	Institution	Ms. No.
शिरहोमविधि Śirahomavidhi		ASHA RAK	DH-390 Reel No. E.1299/13
शिल्पशास्त्रक्रियासमुच्चय Śilpaśāstrakriyāsamuccaya		MCBMBLJ	KA-9
शुभाशुभलक्षण Śubhāśubhalakṣaṇa		RAK	Reel No. E.627/3
शुभाशुभस्वप्नपरीक्षा Śubhāśubhasvapnaparīkṣā		IASWR	MBB-II-195
षडक्षरीमहाव्यूह Ṣaḍakṣarīmahāvyūha		RAK	Reel No. I.4/12
षडङ्गयोगटीका Ṣaḍaṅgayogaṭīkā		JBORS	XXIV. 7-280

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	150	Comp.	
”	”	24	”	
”	Dev.	265		
”	N	53	”	
”	”	49		
”	”	3	”	
”	Kuṭila	7	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
षड्विज्ञानस्तव Ṣaḍvijñānastava		RAK	Reel No. E.1449/29
सत्यसत्त्वपूजाविधि Satyasattvapūjāvidhi		"	" " H.161/1
सप्तबुद्धसूत्र Saptabudhasūtra		"	4/346
सप्तशतसहस्रादिपूजा Saptaśatasahasrādipūjā		IASWR	MBB-II-202
सप्तसहस्रादिपूजाविधि Saptasahasrādipūjāvidhi		RAK "	4/1034 Reel No.E.255/12
सप्तविंशतिनक्षत्रशुभाशुभफल Saptavimśatinakṣatraśubhā- śubhaphala		IASWR	MBB-II-261
समाधिविधि Samādhividhi		RAK IASWR "	Reel No.E.1776/2 MBB-II-192 MBB-II-35

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	1	Comp.	
”	”	4	”	
”	”	16		
”	”	Folding Book	”	
”	”	18	”	
”	”	15		
”	”	24	”	
”	”	28	”	
”	”	11	”	
”	”			

Title	Author	Institution	Ms. No.
सर्वकल्पनिदानतिलक Sarvakalpanidhānatilaka		RAK "	Reel No.E.1/2 4/2432
सर्वप्रदास्तोत्र Sarvapradāstotra		"	Reel No.E.1299/9
सहस्राहुतिहोमक्रिया Sahasrāhutihomakriyā		"	" " E.127/4
संक्षिप्तगुह्यपूजा Saṁkṣiptaguhyapūjā		"	" " E.126/3
संक्षिप्तपञ्चरक्षा Saṁkṣiptapañcarakṣā		"	4/2160
संक्षिप्तमहाकालपूजाविधि Saṁkṣiptamahākālapūjāvidhi		"	Reel No.E.150/4
संक्षिप्तलोकाचारसर्वसंग्रह Saṁkṣiptalokācārasarvasaṁgraha		"	1/1103

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	184	Comp.	
"	"	116	"	
"	"	9	"	
"	"	30	"	
"	"	8	"	
"	Dev.	61	"	
"	N	25	Incomp.	
"	"	58		

Title	Author	Institution	Ms. No.
संपूर्णचक्रमुखाख्यानपूजाविधि Saṁpūrṇacakramukhākhyāna- pūjāvidhi		RAK ASHA	Reel No. E.1714/12 DH-2,276
संपूर्णचक्रसंवरसमाधि Saṁpūrṇacakrasaṁvarasamādhi		MCBMBLJ "	CH-127 CH-137
संपूर्णप्रव्रज्याविधि Saṁpūrṇapravrajyāvidhi		ASHA	CH.282
संवरतन्त्रविधि Saṁvaratantravidhi	मञ्जुघोष Mañjughoṣa	"	514
संवरोदयसमाधि Saṁvarodayasamādhi		RAK	Reel No. E.933/27
साधनोपायिका Sādhanopāyikā		"	1/1697^{9}/6

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	15	Comp.	
"	"	Folding Book		
"	Dev.	63		NS.1036
"	"	36		Missing f.37
"	N	42		NS.723
"	"	8		
"	"	29	"	
PL	"	5		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सारपञ्जिकानवग्रहशान्ति Sārapañjikānavagrahaśānti		MCBMBLJ	KA-18
सिद्धार्थचरित्र Siddhārthacaritra		ASHA	DH.2.20
सिद्धोपदेश Siddhopadeśa		RAK	Reel No. A.936/11
सिन्दूरपूजाविधान Sindūrapūjāvidhāna		"	" " E.1881/13
सिन्दूरार्चनविधि Sindūrārcanavidhi		ASHA	DH.27
		RAK	Reel No. E.1256/8
		"	" " E.1711/18
		"	" " E.1881/19
सिन्दूराभिषेक-सर्वाधिकारविधि Sindūrābhiṣeka-Sarvādhikāravidhi		"	" " E.1168/34

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	105(1b-105b)		
”	N	55(1b-55b)		
PL	”	2(89-90)		
NP	”	14	Incomp.	
”	”	37		
”	”	23	Comp.	
”	”	4		
”	”	13		
”	”	136	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
स्रग्धरा-आर्यताराव्रतविधि Sragdharā-Āryatārāvratavidhi		IASWR	WGS-6
स्थविराभिषेक Sthavirābhiṣeka		RAK	Reel No.B.106/9
स्थविराभिषेक-चूडाकर्म Sthavirābhiṣeka-Cūḍākarma		"	4/1032
स्थविराभिषेकविधि Sthavirābhiṣekavidhi		"	Reel No. E.1839/3
स्नानकलशपूजाविधि Snānakalaśapūjāvidhi		"	" " E.1838/7
स्नानतीर्थभ्रमणस्थापनविधि Snānatīrthabhramaṇasthāpanavidhi		"	" " E.388/4

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	24	Comp.	
"	"	44	"	
"	"	Folding Book	"	
"	"	4	"	
"	"	38	Incomp.	
"	Dev.	11	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
स्नानविधि		RAK	Reel No. B.1881/7
Snānavidhi		"	" " E.1866/17
स्वप्नविचार (स्वप्नावली)		IASWR	MBB-I-125
Svapnavicāra (Svapnāvalī)			
स्वप्नाध्याय		"	MBB-II-67
Svapnādhyāya		JBORS	XVII.6-260
स्वयम्भूचैत्यभट्टारकोद्देश		IASWR	MBB-II-14
Svayambhūcaityabhaṭṭārakoddeśa		ASB	113/9090
स्वाधिष्ठानप्रभेद	आर्यदेव	RAK	3/366
Svādhiṣṭhānaprabheda	Āryadeva		
हलाहलहृदयादिधारणीसंग्रह		"	Reel No.B.106/41
Halāhalahṛdayādidhāraṇīsaṁgraha			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	9	Comp.	
”	”	9	”	
”	”	125	”	
”	”	67	”	
”	Maithilī	2	Incomp.	
”	N	18		
”	”	39	Comp.	
PL	”	1-3	”	
”	”	13	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
हस्तपूजाविधान Hastapūjāvidhāna		RAK	3/589
हस्तमुद्रालक्षण-वज्रधातुमुखाख्यान Hastamudrālakṣaṇa-vajradhātu-mukhākhyāna		"	Reel No. A.940/7
हस्तमुद्रालक्षणविधि Hastamudrālakṣaṇavidhi		"	" " A.945/4
हारतीपूजाविधि Hāratīpūjāvidhi		"	" " E.1498/10
		"	" " E.1503/15
		"	" " E.1774/6
हारतीबलिविधि Hāratībalividhi		"	" " E.1487/9
हेतुतत्त्वप्रबोध Hetutattvaprabodha		"	" " A.77/20

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	(119b-120a)	Comp.	
"	N	35		
"	"	6	"	
"	"	10	"	
"	"	14	"	
"	"	38	"	
"	"	64	"	
"	"	20		

Title	Author	Institution	Ms. No.
हेरुककूटाङ्गार Herukakūṭāṅgāra		RAK	Reel No. B.1740/9
हेरुकचक्रमुखाख्यानपूजाविधि Herukacakramukhākhyāna- pūjāvidhi		"	" " E.1713/6
हेरुकचक्रसंवरध्यान Herukacakrasaṁvaradhyāna		ASHA	38
हेरुकचतुर्विंशतिपीठेश्वरादिसंवरस्तुति Herukacaturviṁśatipīṭheśvarādi- saṁvarastuti		RAK	" " E.1446/16
हेरुकत्रिसमाधिमुखाख्यानपूजाविधि Herukatrisamādhimukhākhyāna- pūjāvidhi		"	" " E.1698/8

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	5	Comp.	
”	”	27	”	
”	”	12		
”	”	4		
”	”	14	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
हेरुकसंपूर्णचक्रमुखाख्यानपूजाविधिसमाधि Herukasaṁpūrṇacakramukhākhyāna- pūjāvidhisamādhi		ASHA	DH-2.208
होमक्रियाविधि		RAK	Reel No.E.699/120
Homakriyāvidhi		"	" " E.1487/10
होमविधि		"	" " E.1488/5
Homavidhi		"	" " E.1496
		"	" " E.1503/19
		"	" " E.1743/22
		ASHA	DH-237
		SMTUL	514

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	15(1b-15b)		
”	”	43	Comp.	
”	”	15	Incomp.	
”	”	9	Comp.	
”	”	59	”	
”	”	22	Incomp.	
”	”	14	”	
”	”	28	Comp.	
Black Paper	Dev.	8		

•

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री : परिशिष्ट

(अंक 16 से 29)

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के प्रथम आठ अंकों में देश-विदेश के पुस्तक संग्रहों में संरक्षित लगभग 271 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित तन्त्र ग्रन्थों की सूचना दी जा चुकी है, जो अब "दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री" (प्रथम भाग) के रूप में सन् 1990 में प्रकाशित किया गया था। तत्पश्चात् धी: के 9वें अंक से 14वें अंक तक की सामग्री को विविध परिशिष्ट धी: के 15वें अंक में दिया जा चुका है। धी: के नवें अंक से 21वें अंक तक की सामग्री, जिसमें लगभग 1148 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचनाएं हैं, यह सामग्री भी "दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री" (द्वितीय भाग) के रूप में सन् 1997 में प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत अंक में 'धी:' के 16वें अंक से 29वें अंक में प्रकाशित सामग्री ग्रन्थ, ग्रन्थाकारों की अनुक्रमणी दी जा रही है। जिससे शोधकर्ताओं को आसानी से सामग्री उपलब्ध हो सके।]

•

ग्रन्थकार नामानुक्रमणी

•

श्रुतिपरम्परानुसार वज्रयान का अभ्युदय

—ठाकुरसेन नेगी—

['धी:' के 13वें अंक में वज्रयान का अभ्युदय शीर्षक से 1. अभिसन्धिपरम्परा, 2. संकेतपरम्परा और 3. श्रुतिपरम्परा, इन तीनों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रस्तुत अंक में ''श्रुतिपरम्परानुसार वज्रयान का अभ्युदय'' का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।]

वज्रयान के मतानुसार बुद्धशासन रत्न का उद्भव तीन स्थितियों में हुआ मानते हैं। भाष्यतन्त्रार्णव में कहा है—बुद्ध, बोधिसत्त्व और योगी, ये तीनों क्रमशः 1. अभिसन्धि-परम्परा, 2. संकेतपरम्परा और 3. श्रुतिपरम्परा से आविर्भूत होते हैं। अर्थात् बुद्ध के लिये अभिसन्धिपरम्परा, विद्याधर के लिये संकेतपरम्परा तथा पुद्‌गल के लिये श्रुतिपरम्परा कही गई है।

श्रुतिपरम्परा का अभ्युदय

श्रुतिपरम्परा वाले पुद्‌गल का आविर्भाव कैसे हुआ इसका वर्णन किया जा रहा है—तृतीय संगीति के पश्चात् राजा कनिष्क के समय पाँच सौ महायानी आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ। वे सभी गुह्यकाधिपति आदि से उपदेश ग्रहण करने वाले तथा ऋद्धि प्राप्त थे, उन्हें पश्चिम के राजा लक्षाश्व ने निमन्त्रित किया और आबू पर्वत-शिखर पर विहार बनवाकर रहने को दिया। राजा ने अपने पाँच सौ तीक्ष्णबुद्धिवाले सेवकों को प्रव्रजित कराकर इन पाँच सौ आचार्यों से महायान धर्म श्रवण कराया। राजा ने पिटकों को लिपिबद्ध कराने का विचार किया और पूछा—''ग्रन्थों का क्या परिमाण है''? आचार्यों ने कहा—''वैसे तो इनका परिमाण असीमित है, लेकिन यहाँ जो विद्यमान हैं उनकी संख्या सहस्रलक्ष है''। राजा ने कहा—''यद्यपि बहुत अधिक है, तथापि लिखवाऊँगा''। यह कहकर सब पिटकों को लिपिबद्ध कराकर उन्हीं आचार्यों को भेंट किया[1]।

---

1. पश्चिम दिशा के लक्षाश्व नामक राजा ने बुद्धशासन की महती सेवा की। उन दिनों देश में महायान के अपरिमेय उपदेष्टाओं का एक ही समय में आविर्भाव हुआ। वे सभी आर्यावलोकितेश्वर, गुह्यकपति, मञ्जुश्री इत्यादि से धर्मश्रवण करते थे। राजा ने इन 500 धर्मपथिकों को आमन्त्रित किया और अपने श्रद्धावान् तीव्रबुद्धि वाले परिकरों को प्रव्रजित करा, धर्म सुनने के लिये उत्साहित किया। राजा ने ग्रन्थ लिखवाने की इच्छा कर आचार्यों से पूछा महायान के कितने पिटक हैं? आचार्यों ने कहा—''वैसे परिमाण का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, तो भी अभी जो उपलब्ध हैं (वे) दस करोड़ श्लोकों का है। तब राजा ने कहा—यद्यपि इनकी संख्या अधिक है तो भी मैं लिखवाऊँगा'' कहकर राजा ने सब पुस्तकें लिखवाकर आचार्यों को भेंट की। (बौद्ध धर्म का इतिहास, तारानाथ, पृ० 37-38)

तब से लेकर महायान का विपुल प्रचार होने लगा। क्रिया, चर्या, योग एवं अनुत्तरयोग के तन्त्रों का भी गुप्त रूप से अभ्यास करनेवाले साधक बड़ी संख्या में हुए। आचार्यों[1] ने विभिन्न देशों से अनेक प्रकार के तन्त्र लाकर उनका प्रचार किया।

जब गुह्यकाधिपति मलयगिरि पर पाँच जाति के विनेयों के सम्मुख गुह्यतन्त्र का धर्मचक्रप्रवर्तन कर रहे थे, तो जहोर के राजा गुह्यतन्त्र की साधना कर रहे थे, तब उन्होंने सात अद्भुत स्वप्न—1. बुद्ध के कायवाक्चित्त चिह्न अपने शरीर में विलीन होते, 2. बहुमूल्य पुस्तक अपने प्रासाद में उतरते, 3. धार्मिक चर्चा करते, 4. सभी लेगों द्वारा अपना सम्मान होते, 5. महती पूजा करते, 6. बहुमूल्य (रत्नों) की वर्षा होते और 7. बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण करते हुए देखे।

राजा ज—शास्ता ने सभी सूत्रों और तन्त्रों में इनके सम्बन्ध में व्याकरण किया है। संवरचक्र के उत्तरतन्त्र में कहा गया है—"मेरे यहाँ से अदृश्य होने के सौ वर्ष पश्चात् तीनों लोकों में विख्यात एक परम सारभूत शासन जम्बूद्वीप की पूर्वदिशा में राजा को अपने पुण्य के प्रताप से उपलब्ध होगा और वह गुह्यकाधिपति के द्वारा प्रकाशित होगा[2]। उसी प्रकार सामान्य सूत्र सन्धिसंग्रह में भी उल्लेख मिलता है[3]। कुछ विद्वानों का कहना है कि राजा ज पूर्ववर्ती इन्द्रभूति हैं, जिन्हें स्वयं शास्ता ने अभिषिक्त किया था[4]। कुछ लोग इनके पुत्र को ज मानते हैं। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह मध्यकालीन इन्द्रभूति हैं। इस प्रकार इनमें मतान्तर है।

---

1. अपवादस्वरूप, सूत्र और तन्त्र के देश काल और शास्ता का भेद नहीं है। मनुष्यलोक में महायान सूत्रों के साथ प्रायः तन्त्रों की भी उत्पत्ति हुई। अधिकतर अनुत्तरयोगतन्त्र तो सिद्धाचार्यों द्वारा लाये गये। उदाहरण के लिये श्री सरह (769-809) के द्वारा बुद्धकपाल, लूइपा (769-809) द्वारा योगिनीसंचर्या, कम्बल और सरोजवज्र द्वारा हेवज्र, कृष्णाचारिन् द्वारा सम्पुटतिलक, ललितवज्र द्वारा कृष्णयमारि, गम्भीरवज्र द्वारा वज्रामृत, कुक्कुरिपाद द्वारा महामाया और पिटोपा द्वारा कालचक्र लाया गया। (भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, तारानाथ, पृ० 145-146)
2. ब्कह-ह्ग्युर र्ग्युद 82
3. ञिङ-म-र्ग्युद्-ह्बुम।
4. नवीन गुह्यमन्त्र के अनुसार कहा जाता है कि उड्डियान के राजा इन्द्रभूति को तान्त्रिक ग्रन्थ शास्ता ने भी प्रदान किये और वज्रपाणि ने भी। जो भी हो राजा ने तन्त्रों को पुस्तकाकार रूप में लिखवाकर लोगों को उपदेश किया। फलतः उस देश के छोटे-छोटे प्राणी भी सिद्धि प्राप्त कर प्रकाशमय शरीर को प्राप्त हुए। (རྙིང་མའི་ཆོས་འབྱུང་།)

जब यह राजा क्रियातन्त्र और चर्यातन्त्र की योगभावना कर रहे थे तो पूर्व स्वप्न के अनुरूप साक्षात् राजा के प्रासाद पर "बुद्धसमयोग" आदि तन्त्र के बृहत् पिटकों की पोथी तथा गुह्यकाधिपति की एक हाथ ऊँची प्रतिमा अवतीर्ण हुई। प्रार्थना करने पर वज्रसत्त्वदर्शनपरिवर्त का ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके साथ वज्रपाणि की मूर्ति के सहारे राजा ने वज्रसत्त्वदर्शनपरिवर्त की सात माह तक साधना की। फलतः उन्हें वज्रसत्त्व के दर्शन प्राप्त हुए, ज्ञानाभिषेक प्राप्त हुआ और उन्होंने सकलतान्त्रिक पुस्तकों की भाषा तथा उनके अभिप्राय का ज्ञान प्राप्त किया। उसी काल में अनुयोग के पिटक भी सिंहलद्वीप में प्रादुर्भूत हुए।

तब राजा ने तान्त्रिक पुस्तकों को सम्पूर्ण सहोर देश में आचार्य कुक्कुराज को दिखलाया और उन्होंने वज्रसत्त्वमायाजाल के वज्रसत्त्वदर्शनपरिवर्त का ज्ञान प्राप्त कर उसकी साधना की। फलतः वज्रसत्त्व ने दर्शन दे, व्याकरण किया—"अब से तन्त्रों के अभिप्रायों की देशना करने वाले गुह्यकाधिपति होंगे"। तदनुसार कहा जाता है कि आचार्य ने गुह्यपति के आदेशानुसार तन्त्र ग्रन्थों का अठारह वर्गों में विभाजन कर राजा को उपदेश दिया।

आचार्य कुक्कुराज—ये कुत्तों के राजा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे दिन में कुत्ते के रूप में एक सहस्र साधकों और योगिनियों को धर्मोपदेश करते थे तथा रात्रि में उनके साथ श्मशानों में जा, गणचक्र[1] आदि समयाचरण[2] का पालन करते थे। इस प्रकार बारह वर्षों तक आचरण करने पर अन्त में उन्हें महामुद्रा[3] की सिद्धि मिली। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि तान्त्रिक चर्या करते समय आचार्य कुक्कुराज[4] ने उड्डियान में जाकर पुनः अठारह महातन्त्र वर्गों में "बुद्धसमयोग" आदि पाँच आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) तन्त्रों[5] पर

---

1. योगी-योगिनियों का सामूहिक अनुष्ठान।
2. विशेष तान्त्रिक नियमों का पालन।
3. उत्तमसिद्धि।
4. ये आचार्य कुक्कुराज के नाम से प्रसिद्ध हुए, किसी-किसी इतिहास में कुत्ताराज नाम से भी वर्णित है। यह पूर्वकालीन योगियों में सुविख्यात थे। वे दिन में कुत्ते के रूपवाले एक हजार योगी-योगिनियों को धर्म की देशना करते और रात को उनके साथ श्मशान क्षेत्रों में जाकर गणचक्र आदि समयाचरण करते थे। इस प्रकार बारह वर्षों तक आचरण करने पर अन्त में उन्हें महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त हुई। उन्होंने पाँच आध्यात्मिक तन्त्रों और योगतन्त्र की अनेक व्याख्या की। (भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 101)
5. नङ ग्र्युद-स्दे लूङ (पाँच आध्यात्मिकतन्त्र)—(१) गुह्यसमाज, (२) मायाजाल, (३) बुद्धसमयोग, (४) चन्द्रगुह्यतिलक और (५) मञ्जुश्रीक्रोध। (भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० 101)

विस्तार से व्याख्यान दिया, अन्त में चन्द्रगुह्यतिलक के द्वारा इन्होंने परमसिद्धि प्राप्त की। आचार्य ने बुद्धसमयोग पर विशेष बल दिया और षड्गुह्यार्थ व्यवस्था आदि अनेक शास्त्र रचे। ञिङ्-मा परम्परा के आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) तन्त्र त्रिवर्ग—(१) उत्पन्न महायोग, (२) सम्पन्न अनुयोग और (३) महासम्पन्न अतियोग के नाम से प्रसिद्ध है। महायोग के दो वर्ग हैं—1. तन्त्रवर्ग और 2. साधनावर्ग।

1. तन्त्रवर्ग—इन सभी तन्त्रों को राजा ने कुक्कुराज को, कुक्कुराज ने छोटे इन्द्रभूति को, छोटे इन्द्रभूति ने सिंहराज को, सिंहराज ने उपराज आदि को उपदिष्ट किया। वे सभी अपनी-अपनी शिष्य-मण्डली के साथ संभार प्रतिपत्ति के द्वारा वज्रधर भूमि को चले गये।

राजा (इन्द्रभूति) ने मायापथ व्यवस्था और द्विविधक्रम आदि का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त संवरमूलतन्त्र की वृत्ति, ज्ञानसिद्धि[1], सहजसिद्धि[2] आदि परमगुह्य विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। सिद्धों के अनेक तन्त्र और उपदेश उस समय प्रचलित थे, जो प्राय: इन्हीं राजकुलीन आचार्य से प्राप्त हुए। महासुख और आभास्वर उपदेशों को इन्होंने सिद्ध जालन्धरपाद को दिया। उन्होंने कृष्णाचार्य तथा उनकी शिष्यमण्डली को उपदेश दिया। सिद्ध तिलोपाद और नाडपाद भी अपनी शिष्यमण्डली सहित इसी परम्परा से प्रादुर्भूत हुए। इसी प्रकार कर्ममुद्रा का उद्भव भी इसी से हुआ। सुतागोमदेवी ने आचार्य कुक्कुराज को, पुन: कुक्कुराज ने आचार्य लीलावज्र तथा बुद्धगुह्य को यह उपदेश दिया।

आचार्य लीलावज्र—यह शंस (षंषर) देश में उत्पन्न हुए। उड्डियान देश में प्रव्रजित हो, उन्होंने त्रिपिटक का अध्ययन किया। विशेषतया वे असंग के मत के सिद्धान्तों में निष्णात थे और सभी सामान्य विद्यास्थानों का ज्ञान रखते थे। उड्डियान के मधिम नामक

---

1. इन्द्रभूति को महाचार्य, ओडियानसिद्ध आदि विशेषणों से सुशोभित किया गया है। 84 सिद्धों में भी ये सादर परिगणित हैं। ये उड्डियान के राजा माने जाते हैं। उड्डियान अथवा ओडियान पीठ काश्मीर में माना जाता है और इन्द्रभूति कश्मीर के ही राजा थे। ज्ञानसिद्धि और लक्ष्मींकरा की अद्वयसिद्धि की पुष्पिका में इन सिद्धियों को ओडियान विनिर्गत माना है। सेकोद्देशटीका (पृ० 58) में ज्ञानसिद्धि को इन्द्रभूतिपाद की रचना माना गया है। (गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, पृ० 25)
2. डॉ० मालती इन्द्रभूति, समयवज्र और डोम्बी हेरुक की अलग-अलग तीन सहजसिद्धियों का उल्लेख कर कहती हैं कि ये सब हेवज्र के आधार पर लिखी गयीं। (सहजसिद्धि, पृ० 127-128, इण्डो ईरानियन जर्नल, भा० 10, सन् 1967)

उपद्वीप में उन्होंने आर्यमञ्जुश्रीनामसङ्गीति की साधना की। सिद्धि का समय निकट आया तो मञ्जुश्री के चित्र के मुंह से रश्मि फैली और वह द्वीप चिरकाल तक आलोकित रहा, अतः इनका नाम ''सूर्य सदृश'' रखा गया[1]। एक समय एक मिथ्यादृष्टि वाले साधक को साधनोपकरण के लिये इन आचार्य की पंच इन्द्रियों की आवश्यकता हुई और वह आचार्य की हत्या करने आया। आचार्य द्वारा हाथी, घोड़ा, बालक, बालिका आदि नानाविध रूप प्रकट किये जाने के कारण वह हत्यारा आचार्य को नहीं पहचान सका और वापस लौट गया, अतः आचार्य का नाम ''विश्वरूपी'' प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में, उड्डियान में, जगत का व्यापक कल्याण किया।

आचार्य लीलावज्र सामान्यतः सब तन्त्रों का ज्ञान रखते थे, विशेषतया मायाजाल में विद्वत्ता एवं सिद्धि प्राप्त थे। नालन्दा में भी दस वर्ष तक रहे और मन्त्रयान शासन का संरक्षण किया। अनुत्तरतन्त्र के रूप में नामसङ्गीति की टीका (नाममन्त्रार्थावलोकिनी[2]), हेवज्रनिष्पन्नक्रम, महातिलकक्रम, गुरु उपदेश के माध्यम से गुह्यसमाज का भाष्य सहजसाधना आदि तन्त्र, मायाजाल के ऊपर भी अनेक शास्त्र रचे तथा उनका विपुल व्याख्यान किया। शास्त्रों में ये लीलावज्र, सूर्यसदृश और विश्वरूपी के नाम से उल्लिखित है, क्योंकि इनके द्वारा प्रणीत शास्त्रों पर लीलावज्र, सूर्यसदृश, विश्वरूप, श्रीवरबोधिभगवन्तकृत लिखा हुआ रहता है।

आचार्य बुद्धगुह्य—इनका जन्म मध्य देश में हुआ और नालन्दा में प्रव्रजित हुए। आचार्य द्वारा वाराणसी के किसी स्थान में आर्यमञ्जुश्री की साधना करने पर किसी समय चित्रांकित मञ्जुश्री हंस पड़े और सिद्धि का साधन लोहित गाय का घी भी उबलने लगा तथा मुरझाये हुए पुष्प भी खिल उठे, तब आचार्य को ज्ञात हुआ कि सिद्धि प्राप्ति का शकुन है[3]। लेकिन वे क्षणभर के लिये इस दुविधा में पड़े रहे कि पहले पुष्प चढ़ायें या घी का पान करें। तभी किसी यक्षिणी ने बाधा डालकर आचार्य के गाल पर तमाचा जड़ दिया जिससे आचार्य कुछ क्षण के लिये मूर्छित हो गये, होश में आने पर देखा कि चित्र धूल से ढक गया है, पुष्प मुरझा गये हैं और घी भी गिरा हुआ है। लेकिन आचार्य ने चित्र पर से धूल

---

1. विस्तृत जानकारी हेतु भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, तारानाथ, पृ० 114-115 एवं སྙིང་མའི་ཆོས་འབྱུང་། को देखें।
2. आर्यनामसंगीतिटीका नाममन्त्रार्थावलोकिनी, तो० 2533
3. भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, ले० तारानाथ, पृ० 119

को पोंछा, पुष्प मस्तक पर चढ़ाए और घी पी लिया। फलतः वे निरोग, बलशाली, तीक्ष्णबुद्धि वाले तथा अभिज्ञाओं पर अधिकार पाने वाले हो गये[1]। एक बार वे उड्डियान गये जहाँ आचार्य लीलावज्र से भेंट हुई। आचार्य से योगतन्त्र और पाँच अनुत्तर आभ्यन्तर तन्त्रों का अध्ययन किया। मायाजालतन्त्र में उन्होंने निपुणता प्राप्त की। एक समय आचार्य लीलावज्र, आचार्य बुद्धशान्ति के साथ पोतलगिरि में आर्यावलोकितेश्वर के दर्शनार्थ गए। तब उन्होंने पर्वत के चरण में आर्यतारा द्वारा नागसमूह को धर्मोपदेश करते देखा, पर्वत के मध्य भाग में भृकुटिनी द्वारा असुर एवं यक्षसमूह को धर्मोपदेश कर रही थी, परन्तु पर्वत की चोटी पर प्रत्यक्ष विराजमान आर्यावलोकितेश्वर के दर्शन पाए। वहीं आचार्य बुद्धगुह्य ने भी भूमि पर चरण स्पर्श न होने आदि की सिद्धि प्राप्त की[2]। वहाँ से लौटकर वाराणसी में वे अनेक वर्षों तक धर्मोपदेश करते रहे। पुनः आर्यमञ्जुश्री के द्वारा पहले तारा के व्याकरण के अनुसार प्रेरित किये जाने पर कैलाशपर्वत पर जाकर साधना की। फलतः उन्हें वज्रधातुमहामण्डल के अनेक बार दर्शन मिले, वे आर्यमञ्जुश्री से मनुष्य की भाँति वार्तालाप कर सकते थे। आचार्य ने गुह्यगर्भ पर विभक्ति नामक वृत्ति, वज्रकर्मक्रम, मण्डल धर्मार्थ, योगतन्त्र पर वज्रधातुसाधना योगावतार[3], वैरोचनाभिसम्बोधि[4] की संक्षिप्त टीका, ध्यानोत्तरपटल[5] की टीका आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

पुनः आचार्य कुक्कुराज ने वेतालसुखसिद्धि और ऋषिभाषित को उपदेश दिया। वेतालसुखसिद्धि ने वज्रहास्य को उपदेश दिया। इन आचार्य ने गुह्यसमाज पर भी सर्वाशयोपादान नामक वृत्ति तथा महासुखसाधन आदि की रचना की और इन ग्रन्थों पर बल देते हुए उपदेश दिया। भारत में गुह्यसमाज की चौबीस परम्पराएं मानी जाती हैं,

1. རྙིང་མའི་ཆོས་འབྱུང་།

2. एक जनश्रुति के अनुसार कहा जाता है कि इन दोनों आचार्यों के पर्वत की चोटी पहुँचने पर वहाँ केवल अवलोकितेश्वर की एक पाषाण-मूर्ति थी। लेकिन बुद्धशान्ति ने सोचा "इस पुण्यभूमि में साधारण प्राणी कैसा होगा, मेरा हृदय शुद्ध नहीं है, ये तारादेवी आदि हैं"। ऐसा सोच उन्होंने दढ़ विश्वास के साथ प्रार्थना की। फलतः उन्हें इच्छांनुसार अपने रूप को बदल सकने की ऋद्धि और अभिज्ञा आदि असीम ज्ञान प्राप्त हुआ। परम ज्ञान के रूप में पहले न सीखे हुए सभी का ज्ञान हुआ। तब बुद्धगुह्य ने अविश्वास करते हुए प्रार्थना की तो उन्हें केवल चरण भूमि पर स्पर्श किये बिना चलने की सिद्धि प्राप्त हुई। (भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, ले० तारानाथ, पृ० 119)

3. वज्रधातुसाधनायोगावतार, तो० 2504

4. वैरोचनाभिसम्बोधि, तो० 2662, 2663, 2663A, 2664

5. ध्यानोत्तरपटलटीका, तो० 2670

जिनमें तिब्बत में छह का प्रचार हुआ। इनकी चौथी परम्परा उपर्युक्त वज्रहास्य की है। इन्होंने नालन्दा के पश्चिम द्वार पण्डित वागीश्वरकीर्ति को चक्रसंवर का अभिषेक देकर इस तन्त्र का उपदेश दिया तथा अववाद-अनुशासनी भी प्रदान की। इस तन्त्र की भावना करने पर वागीश्वरकीर्ति को सिद्धि मिली और उसी शरीर से वे युगनद्ध महामुद्रा विद्याधर पद को प्राप्त हुए। इन्होंने और ऋद्धिभाषित ने सहोर के राजा प्रभहस्ती को उपदेश दिया। इनके बारे में आगे कहा जायेगा।

2. साधना के क्षेत्र में 1. प्रवचन और 2. निधि का प्रादुर्भाव।

आचार्य हूंकार—इनको चित्त अक्षोभ्यकुल का उत्तराधिकारी घोषित किया गया। ये आचार्य नेपाल में ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। इन्होंने वेद आदि सिद्धान्तों में विद्वत्त्व प्राप्त करने के साथ शक्ति भी प्राप्त की। तत्पश्चात् बुद्धशासन के प्रति परम श्रद्धालु बन गए तथा मध्यदेश एवं नालन्दा में आचार्य बुद्धज्ञान और पण्डित राहुलभद्र से प्रव्रजित हुए। पारमिता से आरम्भ कर दोनों बाह्याभ्यन्तर गुह्यमन्त्रों के अध्ययन द्वारा इन्होंने अपने चित्त की परिशुद्धि की। अभिषेक ग्रहण कर समस्त अववाद-अनुशासनी प्राप्त की, विशेषतया जब ये श्रीहेरुक मण्डल में अभिषिक्त किये जा रहे थे, तो इनके इष्टदेव क्रोधीहूंकार प्रकट हुए। चिरकाल तक भावना करने पर इन्हें द्विविधक्रम[1] की विशिष्ट समाधि उत्पन्न हुई। छह मास तक अत्यधिक साधना करने से सिद्धि प्राप्ति की सम्भावना देखी, किन्तु इसके लिये कर्ममुद्रा के रूप में उत्पलवर्ण, वज्रकुल एवं मुद्रा के सभी लक्षणों से सम्पन्न एक चण्डाल कन्या की आवश्यकता हुई। खोज करने पर ऐसी मुद्रा एक स्थान से मिल गई। लड़की के माता-पिता से कन्या माँगने पर वे बोले—"हे ब्राह्मण आचार्य, क्या आप पागल तो नहीं हो गए? हम चण्डाल जाति के हैं इसलिये क्या हम दोनों को दण्ड नहीं मिलेगा"? आचार्य बोले—"मुझे साधनाकाल में एक सहसाधिका की आवश्यकता है, अतः जाति भ्रष्ट होने पर दण्ड नहीं मिलेगा"। तब कन्या के पिता बोले—"अच्छा, तब हमें कन्या के बदन के बराबर सोना-चाँदी चाहिये"। आचार्य ने उसी क्षण भूगर्भ से उतना सोना-चाँदी निकाल कर उन्हें दे दिया। तत्पश्चात् आचार्य द्वारा अपनी मुद्रा के साथ एक गुफा में छह मास तक सेवा, उपसेवा एवं साधना करने पर कृष्णपक्ष की अष्टमी के प्रातः आकाश में 'हूँ' की महाध्वनि हुई। वज्रहेरुक आदि सभी मण्डलों के साक्षात् दर्शन हुए। महासाधनामार्ग के द्वारा उन्हें महामुद्रा परमसिद्धि मिली।

---

1. उत्पन्नक्रम-सम्पन्नक्रम, ध्यानविशेष।

मायापथक्रम में कहा है—"छत्तीस, बारह, चौदह और सोलह दिनों में वशिता की उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई[1]। आचार्य ने उत्पन्नक्रम, सम्पन्नक्रम एवं अन्य तन्त्र-मन्त्रों द्वारा भी अनेक प्राणियों का उपकार किया।

बुद्धसमयोगोपदेश, चतुरङ्गार्थप्रकाशन, महाहेरुकसाधना आदि द्विक्रम सम्बन्धी अनेक शास्त्रों की रचना की। इनसे आचार्य अवधूतिपाद और उड्डियान के आचार्य बुद्धश्री ने उत्पन्नक्रम के प्रवचन (उपदेश) सुने। इन्हीं से महान् आचार्य अभयाकरगुप्त अपनी शिष्यमण्डली सहित प्रादुर्भूत हुए।

आचार्य मञ्जुश्रीमित्र[2]—इनको यमान्तकतन्त्र का प्रचारक या प्रवर्तक घोषित किया गया। ये वेद-वेदाङ्ग में पण्डित थे। इन्होंने महान् आचार्य वेताल भस्मवर्ण आदि से बाह्याभ्यन्तर तन्त्रों के अभिषेक एवं सभी साधारण-असाधारण उपदेश सुने। इन्होंने आचार्य लीलावज्र से यमान्तक, कृष्णयमारि आदि का अध्ययन किया। जब साधारण सिद्धि पर अधिकार प्राप्त कर युगनद्ध पद की प्राप्ति का समय निकट आया, तब वे तान्त्रिक आचार के लिये चले गये। मार्ग में एक पुल पर तीर्थिकों का पोषक राजा हाथी पर सवार होकर आ रहा था, जिसका आचार्य से आमना-सामना हो गया। दोनों में से किसी ने अपने पथ से हटना नहीं चाहा। इस पर आचार्य ने तर्जनी उठायी जिससे राजा और हाथी दो टुकड़ों में होकर पुल के अगल-बगल गिर पड़े। बाद में राजा के परिकरों द्वारा क्षमा-याचना करने पर आचार्य ने उन्हें पुनर्जीवित कर बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। कहा भी गया है—"लौकिक देवताओं[3] को प्रणाम नहीं करते, हाथी के सामने आ जाने पर भी अपने मार्ग से नहीं हटते, मुंह से गुह्यमन्त्र का उच्चारण करते पहाड़ तथा चट्टान पर बिना रुकावट के चलते"। एक समय आर्यमञ्जुश्री ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर आचार्य को अभिषिक्त किया और सभी तन्त्र एवं उपदेश दिए। उन्होंने मलयगिरि से सोने से लिखी एक पुस्तक निकाली, जिसमें सम्पूर्ण चतुष्कर्मों[4] को वैडूर्य से लिखा गया था। इस पुस्तक को देखते ही उन्हें उसमें लिखित बातों का ज्ञान हो गया। बाद में इस पुस्तक को पुनः मुहरबन्द कर वज्रासन की उत्तरदिशा में अदृश्य रूप से छिपाकर रख दिया।

---

1. ग्युंद-ह्बुम।
2. The Blue Annals, P. 369, 436.
3. ग्युंद ह्बुम।
4. चतुष्कर्म—शान्तिक, पौष्टिक, वशीकरण और अभिचारक।

आचार्य नागार्जुन—महान् आचार्य नागार्जुन को वाक् अमिताभकुल के तन्त्रों का प्रवर्तक घोषित किया गया है। आचार्य के एक जीवन-वृत्त के अनुसार ये महाकाल के आठ तन्त्र, कुरुकुल्ला आदि अनेक तन्त्र लाए। ज्ञानडाकिनियों से इन्होंने उपदेश प्राप्त किये। कहा जाता है कि आठ साधारण सिद्धियों में से प्रत्येक पर भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ प्राप्त की। ये श्रीपर्वत पर यक्षिणियों की परिषद के साथ कई वर्षों तक मन्त्राचार करते रहे। इस तरह आचार्य नागार्जुन ने श्रवण, व्याख्यान, ध्यानभावना, संघों का पालन-पोषण, अमनुष्यों का हितसम्पादन इत्यादि कई प्रकार से सद्धर्म की अनुपम सेवा की।

आचार्य विमलमित्र—इनको रत्नाकरज्ञानकुल के अष्टामृत आदि वज्रामृत का प्रवर्तक माना जाता है। ये भारत के पश्चिम में हस्तिवन नामक स्थान में उत्पन्न हुए। इन्होंने सभी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। पिटकधारियों से महायान का अध्ययन कर विद्वत्त्व प्राप्त किया। आचार्य बुद्धगुह्य आदि अनेक महावज्रधरों से समस्त तन्त्रवर्ग का श्रवण किया और भावना करने पर उन्हें महामुद्रा परमसिद्धि प्राप्त हुई। ये मायाजालतन्त्र के विशेषज्ञ थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

एक समय विमलमित्र[1] द्वारा अतिगम्भीर उपदेश देकर अनुगृहीत करने की प्रार्थना करने पर आचार्य ज्ञानसूत्र ने भाँति-भाँति की ऋद्धियाँ प्रदर्शित कर, सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च के अभिषेकों से अभिषिक्त किया। आलोक-कर-पर्वत शिखर पर संसार-निर्वाण आचार का पालन तथा अतिनिष्प्रपञ्च का सकल अभिषेक करने पर विमलमित्र को विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ। अभिषेकों के क्रमानुसार आचार्य (ज्ञानसूत्र) ने उन्हें उपदेश और पुस्तकें भी प्रदान की। विमलमित्र ने दस वर्षों तक उनका अनुसन्धान किया। बाद में प्रकाशक नामक महाश्मशान में दिग्विजय व्रत धारण कर, क्रूर विनेयों को धर्मोपदेश करते रहे। इन्होंने परमगुह्यमन्त्र की कई पुस्तकें लिखीं और इन पुस्तकों को एक बार उड्डियान देश के झील में छिपाकर रखा। दूसरी बार कश्मीर के सुवर्णद्वीप नामक पर्वताग्रभाग में छिपा दिया।

---

1. एक बार आचार्य विमलमित्र के पास 'वज्रसत्त्व' ने साक्षात् पधार कर व्याकरण किया कि—"हे कुलपुत्र! यदि इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हो तो चीन देश के बोधिवृक्ष के पास स्थित मन्दिर चले जाओ"। ऐसा व्याकरण होने पर विमलमित्र अपना भिक्षा-पात्र लेकर चीन चले गये। वहाँ आचार्य श्रीसिंह से भेट हुई। यद्यपि श्रीसिंह ने उन्हें बीस वर्षों तक श्रुतिपरम्परा सम्बन्धी सकल बाह्याभ्यन्तर और गुह्य उपदेश उपदिष्ट किये, तथापि पुस्तकें प्रदान नहीं की। (རྙིང་མའི་ཆོས་འབྱུང་།)

अन्त में आचार्य ने महासंक्रान्ति काय की सिद्धि प्राप्त की और भारत में पर्याप्त समय तक लोक-कल्याण करते रहे।

आचार्य प्रभहस्ति—इनको अमोघसिद्धिकुल-कर्मकीलतन्त्र के प्रचार और संरक्षण का उत्तराधिकार दिया गया। सर्वप्रथम ये आचार्य शान्तिप्रभ और महान् विनयधारी पुण्यकीर्ति से प्रव्रजित हुए और शाक्यप्रभ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने तीनों पिटकों का विद्वत्ता के साथ अध्ययन किया, अन्त में इन्होंने आचार्य वज्रहास आदि अनेक तान्त्रिक वज्रधरों की सेवा कर सभी तन्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम सिद्धि प्राप्त की। इनका तान्त्रिक नाम प्रभहस्ति है। इनके शिष्य शाक्यमित्र ने योगतन्त्र के तत्त्वसंग्रह पर वृत्ति लिखी। इन दोनों आचार्यों ने कश्मीर जाकर जगत् का विपुल कल्याण किया। आचार्य शाक्यप्रभ (प्रभहस्ति) से आचार्य बुद्धगुह्य और महान् आचार्य पद्मसम्भव ने भी उपदेश प्राप्त किये।

आचार्य पद्मसम्भव—इन्होंने जब श्रीहेरुकमण्डल के द्वारा महामुद्रा परमविद्याधर पद का साक्षात्कार किया तो आकाश के मेघ में असह्य जलन हुई और उत्पात मचाने लगे। इनका दमन करने के लिये आचार्य पद्मसम्भव द्वारा साधना करने पर वज्रकुमार ने दर्शन देकर विघ्न-बाधाओं को दूर किया। आचार्य पद्मसम्भव ने बारह मातृकाओं और चार भूदेवियों को वश में कर उन्हें बुद्धशासन की रक्षा करने की शपथ दिलाई। पुनः इन्होंने प्रभहस्ति से भी अठारह बार कीलतन्त्र का श्रवण किया और कर्मकील के समस्त उपदेशों के ये अधिपति हुए। इस प्रकार उपर्युक्त इन उपदेशों का प्रत्येक आचार्य ने अनुशीलन किया तथा अन्य भाग्यवान् विनेयजनों को भी उपदेश दिया।

2. निधिपक्ष[1]—बोधिसत्त्व वज्रगर्भ ने उन सामान्य एवं साधना सम्बन्धी पुस्तकों का कुछ समय के लिये मनुष्य लोक में प्रचार करने के योग्य पात्र एवं क्षेत्र न देख, डाकिनी कर्म इन्द्राणी को सौंप दिया। उन्होंने अष्टसाधनोपदेशों के पाँच सामान्य तन्त्रों तथा दस विशेष तन्त्रों को भिन्न-भिन्न पेटिकाओं में रखकर शीतवन श्मशान के चैत्यशंकरकूट वन में मुहरबन्द कर अदृश्य रूप से रखा। कालान्तर में आठ सिद्धाचार्यों ने अपनी अभिज्ञा से यह रहस्य जाना और उस स्थान पर इकट्ठे हो, अपनी-अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा लौकिक डाकिनियों के समुदाय को मुक्त किया। परोपकार के उद्देश्य से डाकिनी कर्म इन्द्राणी

1. निधि-धर्म (གཏེར་ཆོས་) बोधिसत्त्वों-आचार्यों द्वारा भूगर्भ, पर्वत शिखरों, वृक्ष इत्यादि में छिपाये गये धर्म-ग्रन्थ आदि को निधि-धर्म कहते हैं। (भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, ले० तारानाथ, पृ० 59)

समाधिबल द्वारा साक्षात् प्रकट हुई और महाविशिष्ट की सुर्वणपेटिका विमल को, हेरुक की रजतपेटिका आचार्य हूंकार को, यमान्तक की अयस्पेटिका मञ्जुश्रीमित्र को, हयग्रीव की ताम्र पेटिका नागार्जुन को, कील की फिरोजी पेटिका पद्मसम्भव को, मातृका की सुवर्णपेटिका धनसंस्कृत को, पूजा-स्तुति की गोमेद पेटिका गुह्य को तथा उग्रमन्त्र की गोमेदक पेटिका शान्तिगर्भ को सौंप दी। बाद में प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने विषय में विद्वत्ता प्राप्त कर मन्त्रसिद्धि उपलब्ध की।

निधि का अर्थ है—इस प्रकार के तन्त्र ग्रन्थों को कुछ समय के लिये जनसाधारण के इन्द्रिय प्रत्यक्ष में न आने देकर परोक्षरूप में रखना। अत: लिपिबद्ध किये गये ये तन्त्रग्रन्थ कुछ समय के लिये योग्यपात्र के अभाव के कारण डाकिनियों के संरक्षण में अदृश्य धातु में छिपाकर रखे गये। कालान्तर में अधिकारी सिद्ध पुरुषों को अपने पूर्व प्रणिधान से प्रेरणा मिलती है। शुभमुहूर्त और पूर्व व्याकरण की तिथि एक ही बेला में पड़ती है। तब महान् आचार्यों द्वारा साक्षात् दर्शन देकर अभिषिक्त किया जाता है और भार सौंप दिये जाते हैं। तब वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा अमनुष्य निधिपतियों को वशीभूत कर निधियों से तन्त्र-ग्रन्थ, धन आदि अनेक प्रकार की जनकल्याणकारी वस्तुएं निकालते हैं और बुद्धशासन तथा प्राणियों का विपुल हित सम्पादित करते हैं।

आर्यसर्वपुण्यसमुच्चयसमाधिसूत्र[1] में कहा है—''हे निर्मलतेज! धर्म के इच्छुक बोधिसत्त्वों के लिये अनेक प्रकार की निधियाँ पर्वतों की शिलाओं और वृक्षों में छिपाई गईं। बोधिसत्त्वों को इन निधियों से अनन्त धारणी और धर्मद्वार प्राप्त होंगे। हे निर्मलतेज! धर्म के इच्छुक बोधिसत्त्व-महासत्त्वों को वे देवता प्रोत्साहित करेंगे, जिन्होंने पूर्व में भगवान् बुद्ध के दर्शन प्राप्त किये थे। हे निर्मलतेज! धर्म के इच्छुक बोधिसत्त्व-महासत्त्वों की आयु क्षीण होने पर भी भगवान् बुद्ध तथा देवतागण उनकी आयु एवं बल की वृद्धि करते हैं। बुद्धों के अधिष्ठान और देवताओं के अधिष्ठान से वे चाहें तो सहस्र वर्ष जीवित रह सकते हैं''।

आर्यधर्मसङ्गीतिमहायानसूत्र[2] में कहा है—''हे आनन्द! जो कोई सद्धर्म की प्रतिष्ठा के लिये इस धर्मपर्याय को लिखकर निधि में छिपाकर इसकी पूजा करता है, वह दस

1. तो० 134
2. तो० 238

तत्त्वों[1] को प्राप्त करता है। इस प्रकार उपर्युक्त निधिपक्ष (धर्मग्रन्थों) की प्रामाणिकता को भगवान् सुगत द्वारा निर्विवाद रूप से कहा गया है।

संक्षेप में सकलगुह्यतन्त्रयान का ज्ञान केवल भगवान् वज्रधर को था। उनका कुछ अंश मनुष्य-अमनुष्य लोक में प्रादुर्भूत हुए। लेकिन इन तन्त्रों का अनुशीलन सामान्यरूप से नहीं किया जा सकता था। गुह्यमन्त्र की पुस्तकें भी सामान्य ग्रन्थों के सदृश उपलब्ध नहीं थीं। उदाहरणार्थ—केवल उन सौभाग्यशाली आचार्यों को मौखिक और श्रुतिपरम्परा के उपदेश के अतिरिक्त पुस्तकें नहीं दी जाती थीं, क्योंकि उस समय प्रत्येक आचार्य के निर्वाण के बाद पुस्तकें अदृश्यरूप से छिपाई जाती थीं। अतिशय गम्भीर उपदेशों को प्रत्येक आचार्य के निर्वाण-प्राप्ति के समय केवल निर्वाणलेख के रूप में सुरक्षित रखा जाता था। सामान्य रूप से उनका अंशमात्र भी उपदेश नहीं किया जाता था, केवल कुछ योग्य पात्रों को ही गुप्तरूप से उपदिष्ट किया जाता था।

•

1. दस तत्त्व—(1) बुद्ध के चक्षु प्राप्त करने से बुद्ध का दर्शन करने की निधि। (२) दिव्यश्रोत प्राप्त करने से बुद्ध से धर्म श्रवण करने की निधि। (३) अनागामी संघ का दर्शन करने की निधि। (४) बहुमूल्यरत्न प्राप्त करने से अक्षय सम्पत्ति भोग करने की निधि। (५) लक्षणानुव्यञ्जन सम्पन्न होने से बुद्धकाय की निधि। (६) दुष्टों का दमन करने में निर्भीकता की निधि। (७) दास-दासी की निधि। (८) प्राणियों का आश्रय देने से भाग्यवान् और सुखी जीवन प्राप्त करने की निधि। (९) प्रतिभा की निधि इत्यादि।
(आर्यधर्मसङ्गीतिसूत्र)

संस्कृत में पुनरुद्धृत सुहृल्लेख एवं व्यक्तपदा की समीक्षा-(1)

—पेमा तेनज़िन—

[इस लेख में आचार्य नागार्जुन कृत सुहृल्लेख एवं उसकी आचार्य महामति कृत व्यक्तपदा टीका के संस्कृत पुनरुद्धार कार्य सहित ग्रन्थ के विभिन्न पाठों का सन्दर्भ, ग्रन्थ का महत्त्व, बुद्ध द्वारा त्रिविधधर्मचक्र प्रवर्तन के नीतार्थ एवं नेयार्थ का विभाजन, ग्रन्थगत विषय, आचार्य का आविर्भाव एवं दर्शन तथा आचार्य के सुहृत् सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के बारे में संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।]

आचार्य नागार्जुन कृत सुहृल्लेख एवं उसकी आचार्य महामति कृत व्यक्तपदा टीका ग्रन्थ का संस्कृत मूल सम्प्रति यावत् अप्राप्त है, किन्तु तिब्बत में इस ग्रन्थ का अनुवाद न केवल बहुत पूर्व हो चुका था, बल्कि वहाँ इसके अध्ययन का प्रचलन भी बहुत अधिक रहा। विशेषकर शास्त्रों का अध्ययन न कर पाने वाले गृहस्थ एवं सरकारी अधिकारियों में भी यह काफी लोकप्रिय रहा है। इसी कारण तिब्बत में सभी सम्प्रदायों के अनेक भोट विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी हैं। जबकि भारतीय आचार्यों की एकमात्र टीका आचार्य महामति की सुहृल्लेख-व्यक्तपदा टीका के नाम से उपलब्ध होती है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रन्थ एवं उसकी टीका का संस्कृत मूल प्राप्त नहीं होता है, किन्तु इनका अनुवाद तिब्बती भाषा में प्राप्त होता है, जो तिब्बती तन्ग्युर संग्रह के लेखवर्ग में क्रमसंख्या 4182 तथा 4190, ङे पुट में विद्यमान है। इस ग्रन्थ एवं टीका का तिब्बती अनुवाद आठवीं शताब्दी के भारतीय विद्वान् सर्वज्ञदेव एवं प्रसिद्ध भोट अनुवादक भन्ते पलचे़ग ने किया था। आचार्य सर्वज्ञदेव के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि वे आठवीं शताब्दी में भोट नरेश ठ्रिसोङ् देउच़न के शासनकाल में भारत से आमन्त्रित किये गये थे, क्योंकि भोट अनुवादक कावा पलचे़ग का काल भी वही है।

तिब्बत में इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अंदाज इस बात से भी लग जाता है कि तिब्बत के सभी सम्प्रदायों के आचार्यों तथा अन्य विद्वानों ने भी ग्रन्थ के ऊपर टीका-टिप्पणियाँ लिखी हैं, जिनकी संख्या 20 से अधिक है। इतना ही नहीं वर्तमान में भी तिब्बत की पराधीनता के पश्चात् भारत में स्थित केन्द्रीय तिब्बती स्कूलों में, केन्द्रीय बौद्ध विद्या

संस्थान, लेह, लद्दाख, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ तथा विभिन्न संस्थाओं में इसका अध्यापन होता है। इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के मध्य से अन्तरराष्ट्रीय जगत् में भी बौद्धविद्या के अध्ययन में जो तेजी आयी है, उसके चलते इस ग्रन्थ का अनुवाद अंग्रेजी, जर्मनी, फ्रेंच एवं जापानी भाषाओं में भी हुआ और बौद्धधर्म एवं दर्शन के प्रति रुचि रखने वालों के लिए यह मील के पत्थर का काम कर रही है। चीनी भाषा में भी इसके दो अनुवाद प्राप्त होते हैं, जो पाँचवीं शताब्दी में आचार्य गुणवर्मन एवं संघवर्मन ने किये थे। हिन्दी अनुवाद की कमी को पूरा करते हुए मैंने सुप्रसिद्ध साक्य विद्वान् रेनदावा की भोट-टीका सहित इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया, जो 1996 में तिब्बती संस्थान से प्रकाशित हो चुका है तथा सम्प्रति हिन्दी पाठकों को उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ के ऊपर एक मात्र भारतीय आचार्य महामति की व्यक्तपदा टीका तिब्बती भाषा में अनूदित प्राप्त होती है। ग्रन्थ के देगे, चोने, पेकिंग, नरथङ आदि अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं। मैंने देगे पाठ को आधार बनाकर अन्य संस्करणों से पाठ मिलान कर तिब्बती पाठ का संशोधन एवं सम्पादन किया। ग्रन्थ के समस्त श्लोक आर्यागीति छन्द में हैं। उनका उसी छन्द में पुनरुद्धार किया गया है। साथ ही, व्यक्तपदा-टीका का संस्कृत रूपान्तरण कर अधिकाधिक पाद-टिप्पणियाँ प्रस्तुत कर ग्रन्थ को आधुनिक शोधपरक बनाया गया है। इस ग्रन्थ के अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् संस्कृत भाषा में आ जाने से यह बौद्धधर्म के पुनरुत्थान एवं विकास में सहायक होगा। इससे प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के संरक्षण एवं संवर्धन योजना के तहत भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार में योगदान देगा एवं स्वयं अपनी प्राचीन संस्कृति को जानने का अवसर प्रदान करेगा। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका भी दी गई है, जिसमें बौद्धधर्म के मौलिक सिद्धान्तों सहित ग्रन्थगत विषयों की समीक्षा करते हुए आचार्य का काल निर्णय, दर्शन, आचार्य का व्यावहारिक पक्ष, प्रज्ञोपाय, अभ्युदय-निःश्रेयस एवं उनके अवदान पर भी प्रकाश डाला गया है।

बौद्धधर्म का भारत से विलोप के साथ-साथ बौद्धधर्म के मौलिक संस्कृत ग्रन्थ भी भारत से धीरे-धीरे या तो विलुप्त हो गए अथवा उन्हें नष्ट कर दिया गया और सदियों तक भारत में बौद्धधर्म का पुनरुद्धार या पुनर्जागरण नहीं किया जा सका। यही वजह थी कि बौद्धधर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों की अनुपलब्धता से अपनी ही मातृभूमि भारत में कुछ हिमालयीय क्षेत्रों को छोड़कर इसका अध्ययन-अध्यापन समाप्तप्रायः हो गया था। बीसवीं

सदी में राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत की तीन बार यात्रा की तथा वहाँ के तिब्बती मठों से हजारों की संख्या में संस्कृत एवं तिब्बती पाण्डुलिपियाँ भारत ले आये और उनका विहार रिसर्च इन्स्टीच्यूट एवं जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में संगृहीत किया। उनमें से कुछ का दरभंगा स्थित मिथिला इन्स्टीच्यूट ने प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य, श्री बी० एम० बरुआ, डॉ० शरत्चन्द्रदास, डॉ० आर० एल० मित्र, प्रो० बागची, पी० एल० वैद्य, प्रो० डी० डी० कौशाम्बी, आचार्य नरेन्द्रदेव सहित कुछ भारतीय मूल के विद्वानों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया।

भगवान् बुद्ध का एक विशिष्ट गुण महाकरुणा एवं उपायकौशल भी है। फलस्वरूप वे महाकरुणावश विनेयजनों को नाना प्रकार के उपायों से सन्मार्ग पर आरूढ कराने में अत्यन्त कुशल थे। वे विनेयजनों के विचार, इच्छा, आशय, स्वभाव, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुरूप उपदेश किया करते थे। उनका कहना था कि—तथागत तो मात्र उपदेष्टा हैं, कृत्यसम्पादन तो स्वयं साधक व्यक्ति को ही करना है[1]। सुहृल्लेख में भी कहा गया है[2]—आत्मापेक्षो मोक्षः परस्मान्न लभ्यते किमपि साहाय्यम्।

भगवान् ने भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में विनेयजनों को उनके प्रयोजन और पात्रता के अनुरूप धर्मोपदेश दिया। इस प्रकार उन्होंने तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। उनके इस प्रकार के उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य था विनेयजनों को दुःखों से मुक्त कर परम निर्वाण की ओर ले जाना था, जो उनके समस्त उपदेशों का सार है।

स्वलक्षण एवं बाह्यसत्ता के आधार पर चार आर्यसत्य विषयक प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन वाराणसी के समीप सारनाथ में ऋषिपत्तन, मृगदाव में किया गया था, जो मुख्यतः श्रावकगोत्रीय विनेयजनों के लिए था। उनकी दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है।

निःस्वभाव विषयक धर्मचक्रप्रवर्तन गृध्रकूट पर्वत पर मुख्यतः तीक्ष्णेन्द्रिय महायान गोत्रीय विनेयजनों के लिए किया था। शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि उसके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस देशना के द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव प्रतिपादित किए गये हैं।

---

1. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता । (धम्म० 20.4)
   देशितो वै मया मार्गस्तृष्णाशल्यस्य कर्त्तनः ।
   युष्माभिरेव कर्त्तव्यमाख्यातारस्तथागतः ।। (हे० पं० मु० व०, पृ० 91, ति० सं०)
2. सुहृल्लेख-52 का०।

विज्ञानवादी इसे नेयार्थ देशना मानते हैं। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित, कमलशील आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का इस देशना की नेयार्थता और नीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से मतभेद हैं। उनके अनुसार आर्यशतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ हैं, क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थत: नि:स्वभावता निर्दिष्ट है। भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि कुछ सूत्र यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनि:स्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की नि:स्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है। यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय भी परमार्थत: नि:स्वभावता है, तथापि उनमें 'परमार्थत:' यह विशेषण स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है, जो कि उनके मतानुसार नीतार्थ सूत्र होने के लिए परम आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि आर्यशतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता आदि उनके अनुसार नीतार्थ हैं तथा भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि कुछ सूत्र नेयार्थ हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन सर्वथा नीतार्थ देशना है। उनके मत में जिस सूत्र का विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है तथा जिसका मुख्य प्रतिपाद्य संवृतिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है। अत: इनके मत में भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं तथा इनके मत में 'परमार्थ:' यह विशेषण अनावश्यक है।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन वैशाली में किया गया, जो मुख्यत: मध्येन्द्रिय महायानगोत्रीय विनेयजनों के लिए था। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसकी विषयवस्तु हैं। यद्यपि द्वितीय और तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से नि:स्वभाव कहा गया है, जबकि इस तृतीय धर्मचक्र में यह भेद किया गया है कि अमुक धर्म अमुक दृष्टि से नि:स्वभाव है और अमुक धर्म नि:स्वभाव नहीं है, अपितु सस्वभाव है। इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित है। इसी कारण विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से नि:स्वभाव नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों में कुछ नि:स्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव। अत: वे समानरूप से सर्वधर्मनि:स्वभावता प्रतिपादक द्वितीय धर्मचक्र को नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की नि:स्वभावता और सस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं। इनमें आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रमुख है। इस सूत्र में भी बुद्ध द्वारा तीन धर्मचक्रप्रवर्तन की बात प्रमाणित होती है।

इस प्रकार भगवान् ने विनेयजनों के आशय एवं बुद्धि के अनुरूप तीन बार धर्मचक्रप्रवर्तन किया। इतना ही नहीं, अपितु स्वयं वज्रधर के रूप में प्रकट होकर तन्त्र का धर्मचक्रप्रवर्तन भी श्रीधांन्यकटक में किया।

मनुष्य अनादिकाल से जन्म-मरण की दु:ख-परम्परा में विवश अर्थात् असहाय हो घूम रहा है और नानाविध दु:खों का अनुभव कर रहा है। सतत प्रवर्तमान उसके इस दु:खचक्र का कारण उसकी सन्तान में विद्यमान राग आदि क्लेश ही हैं। जब तक इन क्लेशों का समूल उच्छेद नहीं किया जाता, तब तक उसकी दु:ख-परम्परा का उन्मूलन असम्भव है। दु:खों से आत्यन्तिक विमुक्ति एवं सुखस्थान मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपनी सन्तान में विद्यमान क्लेशों का सम्यक् प्रहाण करना ही एकमात्र उपाय है।

भगवान् बुद्ध ने उन क्लेशों का प्रहाण करने के लिए 84000 धर्मस्कन्धों का उपदेश किया है। काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने 80,000 धर्मस्कन्धों का उपदेश किया, जैसाकि अभिधर्मकोश में आचार्य वसुबन्धु ने कहा है[1]। किन्तु मध्य एवं पश्चिमी वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक 84,000 धर्मस्कन्धों की देशना मानते हैं। महायानियों के अनुसार भगवान् ने असंख्य धर्मस्कन्धों की देशना की है। चूँकि उनकी देशनाएं हमारी कल्पना से परे हैं, अत: एक निश्चित संख्या तय करना उचित प्रतीत नहीं होता है। फिर भी, सामान्य तौर पर 84,000 धर्मस्कन्धों की मान्यता वे भी स्वीकार करते हैं। मुख्यतया चार प्रकार के सत्त्वों के लिए इन धर्मस्कन्धों की देशना की गई है—

1. अत्यधिक रागवान्, 2. अत्यधिक द्वेषवान्, 3. अत्यधिक मोहवान् तथा 4. तीनों विषों से युक्त।

इसलिए भगवान् ने प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों के लिए उनके प्रतिपक्ष के रूप में 21000 धर्मस्कन्धों की देशना की।

कालान्तर में भगवान् बुद्ध की ही भविष्यवाणी के अनुसार उनके निर्वाण के चार सौ साल बाद दक्षिण भारत में एक ब्राह्मणकुल में एक अत्यन्त तेजस्वी बालक का जन्म हुआ[2]। आगे चलकर यही बालक आचार्य नागार्जुन के नाम से विख्यात हुए और बौद्ध

---

1. धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनि:। (अभि० को० 1.25)
2. लं० अ० सू० 10.164-166, पृ० 118; मञ्जुश्री० मू० (म० सू० सं०, भाग-2), 56.440-451

धर्म, दर्शन एवं तन्त्रों के निष्णात एवं प्रकाण्ड विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्हें महायान के माध्यमिक दर्शन का प्रवर्त्तक माना जाता है। आचार्य ने बौद्धधर्म के प्रचार एवं प्रसार हेतु विभिन्न भू-भागों की यात्रा की तथा अपने दीर्घ जीवनकाल में बौद्धधर्म एवं दर्शन को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया।

जम्बूद्वीप से लुप्त हो चुके भगवान् के वचनों का संग्रह प्रज्ञापारमितासूत्र, जो नागलोक में विद्यमान था, उसे प्राप्त करने के लिए आचार्य नागार्जुन को नागलोक की यात्रा करनी पड़ी। इसके लिए उन्हें विष के असर को समाप्त करने वाली विद्या सीखनी पड़ी तथा बारह वर्षों तक नागलोक में धर्मोपदेश करना पड़ा। आचार्य द्वारा लाए गए इन सूत्रों की बुद्धवचनता सिद्ध करने के लिए उन्हें मूलमध्यमककारिका, विग्रहव्यावर्तनी, शून्यतासप्तति आदि ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी, जिसके द्वारा आचार्य ने अपनी प्रौढ तार्किक शक्ति, अलौकिक प्रतिभा तथा असाधारण पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। इस जगत् की समस्त धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निराधार तथा निर्मूल उद्घोषित करना आचार्य नागार्जुन का ही काम था। आचार्य के शिष्य आचार्य आर्यदेव ने अपने गुरु के भाव को स्पष्ट करने के लिए चतुःशतक नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर शून्यता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया। पश्चात् दोनों आचार्यों के ग्रन्थों पर आचार्य चन्द्रकीर्ति ने वृत्ति एवं टीकाओं की रचना कर इस सिद्धान्त को चरम शिखर तक पहुँचा कर माध्यमिकदर्शन को और पुष्ट किया। यहीं से माध्यमिकदर्शन की नींव पड़ी। वैसे शून्यता प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि सूत्रों में उपलब्ध होने के कारण प्राचीन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु प्रमाणों के द्वारा शून्यता सिद्धान्त को प्रमाणित करने का सारा श्रेय आर्य नागार्जुन को है। आचार्य ने समस्त बुद्ध वचनों का प्रतिपाद्य अथवा पारमार्थिक अभिधेय शून्यता को ही निरूपित किया, जो समस्त प्रज्ञापारमितासूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। उन्होंने प्रज्ञापारमितासूत्रों के अतिरिक्त अन्य नानाविध सूत्रों के अन्तिम प्रतिपाद्य को भी शून्यता के अर्थ में ही प्रतिपादित किया। इस तरह उन्होंने सूत्रों का नेयार्थ एवं नीतार्थ में सर्वप्रथम विभाजन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो विनेयजन तत्क्षण शून्यता के पात्र नहीं हैं, वे इतने कठिन प्रतिपाद्य विषय से उद्विग्न एवं भयभीत न हों, इसके लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने अन्य नाना प्रकार से सूत्रों की देशना की। ऐसे सूत्रों की देशना का उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा उन विनेयजनों को इसके लिए प्रेरित करना है।

बौद्धों को अनात्मवादी भी कहा जाता है। नागार्जुन ने अनात्मवाद के आधार पर ही बन्ध-मोक्ष, संसार-निर्वाण, मार्ग एवं फल आदि की समस्त लौकिक एवं आध्यात्मिक व्यवस्थाएं असाधारण रूप में सम्पन्न की हैं। नागार्जुन का माध्यमिकदर्शन उस अनात्मवादीदर्शन परम्परा का उत्कर्ष बिन्दु है। इतना ही नहीं, आचार्य ने सूत्र एवं शास्त्रप्रमाण से निरपेक्ष होकर अस्तित्व की जैसी सूक्ष्म, गम्भीर तथा असाधारण व्याख्या की है, वह सम्प्रति यावत् विश्व के दार्शनिक जगत् में अद्वितीय है, जिसने समस्त अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों को नये सिरे से सोचने पर विवश कर दिया। आचार्य के इस प्रकार के सिद्धान्त ने भारतीय दर्शनों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

वस्तुत: नागार्जुन के माध्यमिकदर्शन के सम्यग् ज्ञान के लिए शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को जानना परम आवश्यक है। शून्यता निषेध पक्ष है तो प्रतीत्यसमुत्पाद साधनपक्ष। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर माध्यमिक सारी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पादित करते हैं। शून्यता की स्थापना प्रतीत्यसमुत्पाद पर तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थापना शून्यता पर निर्भर है। फलत: माध्यमिक पक्ष में कोई भी प्रतिज्ञा न होने से किसी दोष की सम्भावना नहीं है। स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं प्रासङ्गिक माध्यमिक में कुछ भिन्नताएं अवश्य हैं, किन्तु शून्यता एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की मान्यता दोनों में विद्यमान है।

आचार्य कहते हैं कि—जो शून्यता को समझता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद[1] को समझ सकता है, प्रतीत्यसमुत्पाद को समझने वाला चारों आर्यसत्यों को समझ सकता है। चारों सत्यों को समझने पर उसे निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्यसमुत्पाद जानने वाला यह जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्म का हेतु है और क्या धर्म का फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्महेतु, अधर्मफल क्या है। क्लेश, क्लेशहेतु, क्लेशवस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है, वह सुगति एवं दुर्गति को भी जानते हुए उनसे निकलने का उपाय भी जान सकता है।

ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् एवं माध्यमिक दर्शन के संस्थापक आचार्य ने न केवल, विशाल एवं गम्भीर शास्त्रों की रचना की, अपितु बौद्धधर्म के विकास एवं प्रचार हेतु धर्म

1. इह हि य: प्रतीत्य भावानां भाव: सा शून्यता। कस्मात्? नि:स्वभावत्वात्। ये हि प्रतीत्यसमुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात्। कस्माद्? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयु:। प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयु:। (विग्रहव्यावर्त्तनी, पृ० 22)
य: प्रतीत्यसमुत्पाद: शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। (म० शा० 24.18)

श्रवण के लिए समयाभाव के कारण सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को संक्षिप्त लेख द्वारा धर्मोपदेश किया। कहने को तो यह लघु लेख है, किन्तु विषय एवं उसकी गम्भीरता की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह आचार्य की उपायकुशलता एवं विद्वत्ता का ही परिणाम है कि छोटे से लेख में सम्पूर्ण बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को समाविष्ट कर लिया है।

इस ग्रन्थ में 123 आर्यागीति नामक छन्द के श्लोक हैं, जिन्हें पत्र के रूप में आचार्य ने तत्कालीन दक्षिण भारतीय राजा शातवाहन गौतमीपुत्र को सम्बोधित कर लिखा है। प्राचीनकाल में गुरु, शिष्य एवं मित्रों के मध्य परस्पर पत्रव्यवहार से गम्भीर धार्मिक चर्चा की जाती थी, जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण स्वयं सुहृल्लेख है। इस प्रकार के अनेकों लेख भोट तन्ग्युर संग्रह में उपलब्ध होते हैं। ये लेख वर्तमान पत्र-व्यवहार से सर्वथा भिन्न तथा महत्त्वपूर्ण धार्मिक चर्या विशेष पर आधारित हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने राजा को सम्बोधित करते हुए संक्षिप्त पत्र के रूप में उपदेश का कारण बताते हुए कहा है कि राजा तो प्रजा की देख-रेख में, कार्य की बहुलता से अनेक ग्रन्थों को धारण करने में असमर्थ होता है। अतएव शब्दबाहुल्य के दोष का परिहार कर कतिपय श्लोकों की रचना करूँगा[1]। इतना ही नहीं, उन्होंने इस अत्यन्त लघु ग्रन्थ के माध्यम से न केवल समस्त बौद्धधर्म के सिद्धान्त का संक्षेप में उपदेश किया है, बल्कि राजा को बताया है कि अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के अविपरीत उपाय की सम्भावना बुद्धशासन के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रधानतः गृहस्थों को बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा दी गई है। पश्चात् गृहस्थों एवं प्रव्रजितों दोनों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के प्रतिपादन हेतु उपदेश दिया गया है। अनन्तर सांसारिक दोषों से खिन्न होना तथा निर्वाण लाभ हेतु मार्ग की प्रतिपत्ति की देशना भी की गई है। इस प्रकार ग्रन्थ को हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

सुहृल्लेख की रचना आचार्य नागार्जुन ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में की तथा यह भी सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को सम्बोधित करके लिखा गया।

---

1. प्रकृतिसुकृतार्हगुणाढ्य सुगतवचोभ्यः समुदानीतानि मया ।
शुभमालक्ष्य कृता वै काश्चिदार्यागीतयस्त्वया च श्रव्याः ।। (सु० ले० 1 का० 'पुनरुद्धार')

ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार सातवाहन राजवंश में कई राजा हुए। उनमें से आचार्य का मित्र प्रथम, द्वितीय या तृतीय अथवा अन्तिम कौन-सा राजा था, इसके बारे में निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। सभी विद्वानों ने आचार्य के सुहृत् को सातवाहन राजा के नाम से या फिर सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के नाम से उल्लिखित किया है। भोट इतिहासकारों के अनुसार सातवाहन वंश का प्रथम राजा ही आचार्य का मित्र था। तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का अन्त अथवा प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आचार्य ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में दक्षिण से कुरुप्रदेश की ओर प्रस्थान करते समय मार्ग में सातवाहन राजा को भविष्यवाणी की थी। तत्पश्चात् कुरुप्रदेश से वापस आकर ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ साल बाद आचार्य के प्रादुर्भाव की भविष्यवाणी के अनुसार तथा आचार्य के जीवन के अन्तिम अवस्था में रचनाकाल होने के कारण यह गणना सही प्रतीत नहीं होती है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सातवाहन राजवंश द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ होकर कुछ समय पश्चात् प्रथम शताब्दी ईसवी सन् में प्रायः प्रभावहीन हो चुका था। राजा की कोई मान्यता या स्थिति नहीं रह गई थी। द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में सातवाहन गौतमीपुत्र एक योग्य एवं वीर सेनापति के रूप में उभरा और उसने अपनी शक्ति को एकत्र करके राज्य की सीमा को बढ़ाया। अपने पूर्वजों द्वारा युद्ध में हारी हुई भूमि को जीता और पूर्व से पश्चिमी समुद्र तक राज्य का विस्तार किया। यह सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो उस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा माना जाता है। कहा जाता है कि उसके शासनकाल में उसके घोड़ों ने तीन समुद्र का पानी पिया। बौद्धधर्म के प्रति इस राजा का झुकाव था। नासिक से प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए भूमि दान आदि कार्य किये[1]। इतिहास के अनुसार इन्होंने 106 ई० सन् से 130 ई० सन् पर्यन्त राज्य किया। भविष्यवाणी के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भाव भगवान् बुद्ध के चार सौ साल बाद हुआ जो ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। मान्यताओं के अनुसार वे तीन सौ वर्षों तक जीवित रहे। इस प्रकार द्वितीय शताब्दी ई० सन् के प्रारम्भ में आचार्य अपने जीवन के उत्तरार्ध में थे। यही समय सभी मान्यताओं की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है और ग्रन्थ की रचनाकाल को निर्धारण करने में सहायक होता है। उपर्युक्त

1. सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के अभिलेख - डॉ० वा० पी० मिराशी, पृ० 25

बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में लगभग 110 ई० सन् के आस-पास की है।

आचार्य नागार्जुन ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त रत्नावली नामक ग्रन्थ की रचना भी इसी सातवाहन राजा को सम्बोधित करते हुए की है। इन दोनों ग्रन्थों में किस ग्रन्थ की रचना पहले हुई, ऐसा कोई क्रम स्पष्ट नहीं है। फिर भी ऐसा माना जा सकता है कि पहले संक्षेप में सुहृल्लेख की रचना की गई होगी और पश्चात् विस्तृत रूप में रत्नावली की रचना की होगी। ऐसा विचार करने में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि दोनों ग्रन्थों के विषयों में समानता पाई जाती है। जिन विषयों का संक्षेप में सुहृल्लेख में वर्णन किया गया है, उनका विस्तारपूर्वक रत्नावली में वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ की व्यक्तपदा-टीका की रचना आचार्य महामति ने की है, जिनके बारे में बौद्धधर्म के इतिहास में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः इनके बारे में कुछ ठीक-ठीक कहना सम्भव नहीं है। लेकिन हम आचार्य की रचना के आधार पर कुछ कहने की चेष्टा करते हैं। आचार्य की इस व्यक्तपदा-टीका में भगवान् के वचनों का ही उद्धरण दिया गया है, जबकि पश्चात्वर्ती भोटाचार्यों टीकाकारों ने बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, मध्यमकावतार आदि अनेक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। अतः ऐसा लगता है कि ये आचार्य नागार्जुन के समकालीन नहीं थे तो बहुत बाद के भी नहीं थे। इन परिस्थितियों में आचार्य के काल का निर्णय अत्यन्त दुःसाध्य कार्य है। विद्वानों को इस विषय में गवेषणा करनी चाहिए।

•

महायानसूत्रों की बुद्धवचनता

—विजयराज वज्राचार्य—

[बौद्ध धर्म के दोनों प्रस्थान महायान एवं हीनयान वस्तुतः बुद्ध द्वारा ही प्रवर्तित हैं और भगवान् बुद्ध ने अपने तीनों धर्मचक्र प्रवर्तनों में इनका उपदेश दिया। फिर भी स्थविरवादी महायान सूत्रों को बुद्ध द्वारा उपदेशित नहीं मानते। प्रस्तुत निबन्ध में उक्त सारी विप्रतिपत्तियों को महायान सूत्रों से उद्धरण देते हुए सप्रमाण इनका बुद्धवचनत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।]

शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन किया। उसमें द्वितीय और तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन महायान के लिए था। द्वितीय धर्मचक्र के विनेयजन महायानी लोग हैं तथा शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसकी विषयवस्तु है। तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् ने वैशाली में किया। इसके विनेयजन विज्ञानवादी लोग हैं। परिकल्पित की लक्षणशून्यता, परतन्त्र की स्वयम्भाव से शून्यता तथा परिनिष्पन्न की परमार्थतः शून्यता इसका विषय है। यथा—

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधा निःस्वभावताम् ।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता[1] ।।

अपनी विशिष्ट दार्शनिक प्रतिभा से महायान सूत्रों के आधार पर नागार्जुन द्वारा माध्यमिक दर्शन की प्रतिष्ठा करते ही उन्हीं के काल में महायानसूत्रों की बुद्धवचनता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगने लगे थे। विरोध पक्ष की ओर से कहा जाने लगा कि जिन सूत्रों का संगीतियों में संगायन नहीं हुआ तथा परम्परागत पिटकों से जिनका विषय भी भिन्न है, ऐसे सूत्र निश्चित ही बुद्धवचन नहीं हैं। इन सूत्रों को स्वयं नागार्जुन ने रच लिया है अथवा वंचना के लिए स्वयं मार द्वारा प्रणीत हैं। यही कारण है कि नागार्जुन से लेकर सभी प्रमुख महायानी आचार्यों ने महायान सूत्रों की बुद्धवचनता सिद्ध करने के लिए प्रभूत प्रयास किये हैं।

---

1. त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—का० 23, पृ० 327, सं०-प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् 1972

आचार्य नागार्जुन का कहना है कि शून्यता केवल महायानी सूत्रों का ही प्रतिपाद्य नहीं है, अपितु हीनयानी पिटकों में भी उसकी चर्चा है। जैसा कि कहा है—

फेणपिण्डूपमं रूपं वेदना बुब्बुलूपमा ।
मरीचिकूपमा सञ्ञा संखारा कदलूपमा ।
मायूपमञ्च विञ्ञाणं देसिता दिच्चबन्धुना[1] ।।

अज्ञान के कारण लोग स्पष्टतया उसे समझ नहीं सके तथा द्वेष के कारण महायान की निन्दा करते हैं। तथा हि—

कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभावना[2] ।।

हे कात्यायन! वास्तविकता में तत्त्व को अस्तित्त्व और अनस्तित्त्व दोनों रूपों में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह तो निष्प्रपञ्च रूप है, जिसका हीनयानी ग्रन्थों में भी स्पष्टतया प्रतिपादन है। जैसे कि धम्मपद में भी कहा है—

सब्बे धम्मा अनत्ता ति, यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया[3] ।।

चन्द्रकीर्ति ने भी मध्यमकावतार में अर्हतों द्वारा शून्यता का साक्षात्कार होना तीन युक्तियों और आगम वचनों द्वारा सिद्ध किया है[4]।

रत्नावली में भी आचार्य नागार्जुन ने विस्तारपूर्वक महायान को भगवान् द्वारा निर्दिष्ट कहा है, अज्ञान द्वारा लोग उसे देख नहीं पाते और उसकी निन्दा करते हैं। तथा हि—

---

1. द्रष्टव्य–संयुक्तनिकाय, खण्ड 2, पृ० 360, सं०–भिक्षु जगदीश काश्यप, नवनालन्दा महाविहार, 1959, तुलनीय—इन्हीं पंक्तियों का संस्कृत रूपान्तर प्रसन्नपदा, पृ० 14 में एक संस्कृत सूत्र से उद्धृत है—
   फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा ।
   मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः ।
   मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।। (सं०–पी० एल० वैद्य, दरभंगा संस्करण, 1960)
2. मूलमाध्यमिककारिका, 15.7, पृ० 117–118, दरभंगा संस्करण।
3. धम्मपद, मग्गवग्गो, पृ० 280; के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी 1982
4. मध्यमकावतार, तिब्बती संस्करण, पृ० 18, कर्युद कमेटी द्वारा प्रकाशित, के० उ० ति० शि० सं०, 1997

बोधिसत्त्वस्य सम्भारो महायाने तथागतैः ।
निर्दिष्टः स तु संमूढैः प्रद्विष्टैश्चैव निन्द्यते ।।

गुणदोषानभिज्ञो वा दोषसंज्ञी गुणेषु वा ।
अथवापि गुणद्वेषी महायानस्य निन्दकः ।।

परात्महितमोक्षार्थाः संक्षेपाद् बुद्धशासनम् ।
ते षट्पारमितागर्भास्तस्माद् बौद्धमिदं वचः[1] ।।

आर्य मैत्रेयनाथ ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए अपने महायानसूत्रालंकार में ''महायानसिद्ध्यधिकार'' नामक एक स्वतन्त्र अधिकार ही लिखा है। उन्होंने लिखा कि प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्र बुद्धवचन न होकर सद्धर्म में विघ्न डालने की इच्छा से किसी अन्य ने रचे होते तो सद्धर्म की रक्षा में उपेक्षा न करने वाले सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने पहले ही इसकी भविष्यवाणी कर दी होती, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया है। श्रावकयान और महायान साथ-साथ ही प्रवृत्त हुए हैं। यदि बुद्धवचन न होते तो दोनों की एक साथ प्रवृत्ति कैसे होती? यह गम्भीर और उदार महायानदर्शन तार्किकों की बुद्धि का अगोचर है, अतः किन्हीं अन्य तार्किकों के द्वारा यह बाद में कह दिया है—ऐसा कहना प्रलापमात्र है। कालान्तर में किसी ने बुद्धत्व प्राप्त करके इन वचनों को कहा है—ऐसा कहा जाए तो उतने से ही महायानसूत्रों का बुद्धवचनत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वही बुद्ध है, जो सम्बोधि प्राप्त कर इस प्रकार के वचन कहता है। यदि महायान का भाव हो तो प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्रों को बुद्धवचन होना चाहिए, क्योंकि इनसे श्रेष्ठ कोई अन्य महायानपिटक उपलब्ध नहीं है। यदि महायान का अभाव है तो श्रावकयान का भी अस्तित्व नहीं हो सकता।

अतः श्रावकयान तो बुद्धवचन है, महायान नहीं, ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धयान के बिना बुद्ध का उत्पाद ही सम्भव नहीं है, अतः महायानपिटक एवं श्रावकपिटक दोनों के बुद्धवचनों के होने या न होने में कुछ भी अन्तर नहीं है। महायान की भावना से उस निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो क्लेशों का प्रतिपक्ष होता है। अतः महायानपिटक बुद्धवचन है। ''महायानसूत्रों में कुछ ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं,

---

1. आर्य नागार्जुन विरचित रत्नावली, 4:, 67, 68, 82, दरभंगा संस्करण, 1960

जिनका शब्दानुसारी अर्थ लेने में विरोध दिखाई पड़ता है, अतः ये बुद्धवचन नहीं हैं"—यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे वचनों का अर्थ यथारुत नहीं होता, अपितु उनका आभिप्रायिक अर्थ हुआ करता है। इसलिए ऐसे कथनों को 'नेयार्थसूत्र' कहते हैं। इसलिए वे अबुद्धवचन नहीं हैं। तथा हि—

आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः ।
भावाभावेऽभावात् प्रतिपक्षत्वाद् रूतान्यत्वात्[1] ।।

आचार्य शान्तिदेव ने भी अपने बोधिचर्यावतार[2] में महायानसूत्रों का विस्तारपूर्वक बुद्धवचनत्व सिद्ध किया है। आचार्य श्रावकयानी वैभाषिक आदि से कहते हैं कि यदि महायान असिद्ध हैं तो श्रावकपिटक के ही बुद्धवचन होने में क्या प्रमाण हैं? अर्थात् कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

यह श्रावकयान बुद्धवचन है, क्योंकि इसे महाकाश्यप आनन्द आदि ने सुन कर क्रमशः संगायन कर परम्परया आज तक सुरक्षित रखा है, अतः इसकी विशुद्ध परम्परा है, अतः यह बुद्धवचन है, यदि श्रावकयानी ऐसा कहते हैं, तो परम्परा और संगायन का होना महायान के साथ भी है। मञ्जुश्री, अवकोकितेश्वर आदि ने संगायन किया है और नागार्जुन से लेकर इसकी अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है। अतः महायान भी सिद्ध है। यही नहीं, यदि यह कहें कि महायान के बुद्धवचन होने में आप में और हम में विवाद है, अतः जो विवादग्रस्त है वह बुद्धवचन नहीं हो सकता। यदि श्रावकयानी ऐसा कहें कि विवाद के होने से बुद्धवचन नहीं है तो वे ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि बौद्धनिकायों में आपस में बहुत मतभेद हैं। जैसे थेरवाद में अन्तराभव का न होना माना जाता है, वहीं सर्वास्तिवाद में उसका होना माना जाता है। थेरवादी लोग भिक्षु की दीक्षा जहाँ पालि भाषा में ही देना मानते हैं, वहाँ अन्यवादी संस्कृत और प्राकृत या अपनी-अपनी भाषाओं में देना स्वीकारते हैं। अतः निकायों में मतभेद है। फलतः श्रावकयान भी बुद्धवचन न होगा।

---

1. महायानसूत्रालङ्कार- 1: 7, पृ० 3
2. बोधिचर्यावतार- 9.42

यही नहीं तत्त्वतया भी जब तक साधक किसी आलम्बन में स्थित रहेगा वह अर्हत्व को प्राप्त नहीं कर सकता, निरालम्बन शून्यता के सम्यग्ज्ञान से ही अर्हत्व प्राप्त होगा। अतः महायान बुद्धवचन सिद्ध होगा[1] ।

दूसरी ओर महायान के दो तिहाई वचन श्राव्रकयानियों से मिलते हैं, वहीं कुछ अंश के न मिलने से कैसे वह बुद्धवचन नहीं होगा। जैसे कुछ अंश के न मिलने से महायान को बुद्धवचन नहीं मान रहे, वैसे ही दो तिहाई की समानता होने से क्यों शेष को भी बुद्धवचन नहीं मानते[2] ।

यदि कहो कि श्रावकपिटक के बुद्धवचन होने में श्रावकयानी और महायानी दोनों को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, अतः उभयसिद्ध होने से श्रावकपिटक बुद्धवचन है? इस पर आचार्य कहते हैं कि उभयसिद्ध होने से पूर्व श्रावकपिटक भी बुद्धवचन के रूप में असिद्ध ही था। यदि यह कहो कि हमें और तुम्हें छोड़कर अन्य मतावलम्बियों के द्वारा भी श्रावकपिटक बुद्धवचन के रूप में सिद्ध है? इस पर आचार्य का कहना है कि अन्यों के आधार पर अपने आगम की सत्यता स्वीकार की जाएगी तो वेद आदि को भी सत्य स्वीकार करना पड़ेगा। तथा हि—

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ।।

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु ।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता[3] ।।

अपि च, यदि ऐसा कहा जाए कि जो आम्नाय गुरु-शिष्य परम्परा से बुद्धवचन के रूप में आगत है, सूत्र में अवतरित होता है, विनय में दिखलाई पड़ता है और धर्मता

---

1. शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता ।
   सावलम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ।।
   विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः ।
   यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत् तेन शून्यताम् ।। (बोधिचर्यावतार 9.45, 49)
2. एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत् ।
   एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितम् ।। (वहीं 9.51)
3. बोधिचर्यावतार, 9.42-43

(प्रतीत्यसमुत्पाद) का विलोम नहीं है, अत: यह बुद्धवचन है तो ये सारी बातें महायान में भी दृष्टिगोचर होती हैं[1]। अत: महायान भी बुद्धवचन है।

अध्याशयसंचोदनसूत्र के अनुसार जो वचन अर्थ से संयुक्त है, धर्म से संयुक्त है, क्लेशों का प्रहाणक है और निर्वाण के गुणों की अनुशंसा करता है, वे बुद्धवचन हैं[2]। संक्षेप में जो सुभाषित है, वह बुद्धभाषित है[3]।

वस्तुत: हीनयान और महायान अथवा श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान, ये सब सत्त्वों के यथारुचि एवं आशय के अनुसार, बुद्ध के उपदेशों के व्याख्यान हैं। ये सब कोई भिन्न सैद्धान्तिक तत्त्व नहीं हैं, अपितु साधक लोगों के आध्यात्मिक विकासक्रम और बौद्धिक योग्यताओं के अनुरूप एक तारतम्य है।

महायान की बुद्धवचनता के विरोध में अनेक अन्य आक्षेप भी दिये जाते हैं तथा आज भी विद्वान् उनमें संदेह प्रकट करते हैं, जिनका आचार्यों ने विस्तृत समाधान किया है।

(1) महायान सूत्रों का प्रथम, द्वितीय संगीतियों में संगायन नहीं हुआ है?

महायानसूत्रों का संगायन हुआ है, किन्तु उनके संगीतिकार समन्तभद्र मञ्जुश्री, वज्रपाणि, मैत्रेय आदि बोधिसत्त्व थे। श्रावकयानी उनके संगीतिकर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि वे उनके गोचर नहीं हैं। लगातार 45 वर्षों तक विभिन्न स्थानों पर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सूत्रों का परिमाण उतना ही नहीं हो सकता, जितने का संगायन प्रथम और द्वितीय संगीति में श्रावकयानियों ने किया है।

(2) महायानसूत्रों में भगवान् बुद्ध के धर्मकाय को नित्य तथा व्यापक कहा गया है, जो बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है कि ''सभी संस्कार अनित्य'' हैं?

---

1. द्र०-स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि ।
औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरूद्धैव धर्मता ।। (महायानसूत्रालंकार 1.11, पृ० 4)
2. यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वच: ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ।।
द्र०-बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ० 205, दरभंगा संस्करण।
3. अपि च—यत्किञ्चिन्मैत्रेय सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्। (द्र०-अध्याशयसंचोदनसूत्र)

भगवान् बुद्ध ने जिस यथावत् ज्ञान का अधिगम किया है, उससे वे कभी विचलित नहीं होते तथा न उसमें कोई विकार आता है। इसी अर्थ में वह नित्य कहा गया है, न कि कूटस्थ नित्यता के अर्थ में। उसकी नित्यता का तात्पर्य सन्ततिनित्यता से है। भगवान् का यावत् ज्ञान सभी ज्ञेयों में व्याप्त होता है तथा उसका जगदर्थ कृत्य सभी विनेयों में सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है, इसी अर्थ में उसे व्यापक कहा गया है, न कि ब्रह्म की तरह व्यापक के अर्थ में।

(3) महायानसूत्रों में तथागतगर्भ या आलयविज्ञान की देशना की गई है, जो प्रकारान्तर से तैर्थिकों के आत्मा की देशना के सदृश है। फलतः यह बौद्धों के "सभी धर्म अनात्म हैं" इस सिद्धान्त के विपरीत है?

तथागतगर्भ का आधार चित्त की शून्यता, हेतुओं की निर्लक्षणता और फल की अप्रणिधानता स्वरूप है, न कि शाश्वत पुरुषसदृश। जन्म ग्रहण करने वाला विज्ञान (आलयविज्ञान) भी नदी स्रोत की तरह क्षणिक प्रवाह मात्र ही है। ये धर्ममुद्रा एवं नैरात्म्य का कभी भी अतिक्रमण नहीं करते।

(4) निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में भी बुद्ध की चित्तसन्तति का निरोध नहीं होता। वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं। महायान का यह सिद्धान्त "निर्वाण शान्त है"—इस सर्वमान्य बौद्धसिद्धान्त से विपरीत है?

बुद्ध ने आवरणों का सर्वथा प्रहाण कर दिया है। वे विनेयजनों के अध्याशय के अनुरूप कहीं जन्म-ग्रहण, कहीं बोधि प्राप्ति तो कहीं परिनिर्वाण दर्शाते रहते हैं। उनकी चित्तसन्तति का सर्वदा विलोप कभी नहीं होता। चित्त की सन्तति की इस निरन्तरता का उपर्युक्त सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

(5) महायानसूत्रों में व्रत, उपवास, स्नान, मन्त्र आदि का विधान है, जिसके द्वारा पापों का प्रक्षालन और मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख है, जैसा कि ब्राह्मण धर्म में भी है, अतः वे बुद्धवचन नहीं हो सकते?

महायान का साधक संस्कृत, असंस्कृत किसी भी धर्म की कल्पना नहीं करता और न उनमें अभिनिविष्ट होता है। वह सभी धर्मों को आदिशून्य एवं प्रकृतिविशुद्ध

समझता है। वह स्नान, व्रत आदि से पाप का क्षय भी नहीं मानता, फिर भी शरीरलाघव एवं मुक्ति में सहायक स्नान, व्रत आदि का आचरण करता है। अत: यह कहना कि महायान सूत्रों में धारणी, मन्त्र, व्रत, स्नान, उपवास आदि के जो उपदेश उपलब्ध होते हैं, वे ब्राह्मण धर्म के समान हैं, वे बुद्धवचन नहीं हो सकते, सर्वथा युक्तिहीन हैं[1]। इस तरह हम देखते हैं कि महायानी आचार्यों ने महायानसूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए व्यापक एवं कालव्यापी प्रयास किये हैं।

यह विदित है कि आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर माध्यमिक दर्शन की प्रतिष्ठा की। उन्होंने समस्त बुद्धवचनों का समन्वय कर उनका मुख्य प्रतिपाद्य या पारमार्थिक अभिधेय शून्यता को ही निरूपित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य तो शून्यता है ही, जिन सूत्रों के प्रतिपाद्य अन्य विध हैं, उनका भी पारम्परिक अभिप्राय शून्यता के अर्थ में ही उन्होंने प्रकाशित किया। उनका कहना है कि जो विनेयजन तत्काल शून्यता के पात्र नहीं हैं, उनके उद्वेग और भय से रक्षा के लिए उपायकुशल भगवान् ने अन्य प्रकार के सूत्रों की देशना की है। ऐसा सूत्रों का भी उद्देश्य अन्ततोगत्वा विनेयजनों की शून्यता के लिये भव्य बनाना ही है।

अर्थात् सारांश में महायान में व्याप्त जिस बोधिचित्त, महाकरुणा, सभी धर्मों की नि:स्वभावता आदि का युक्ति से विश्लेषण करने पर कहीं भी दोष नहीं दिखता हो और ऐसे विचारों से व्यक्तिगत और समाज का कल्याण हो, वह कैसे बुद्धवचन नहीं होंगे[2]।

•

---

1. इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के व्यापक समाधान के लिए द्रष्टव्य-आचार्य भावविवेक कृत तर्कज्वाला।
2. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—बौद्ध दर्शन प्रस्थान, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, सन् 1997

बौद्ध पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी : परिशिष्ट

(अंक 19, 25 तथा 29)

—ठिनलेराम शाशनी—

[दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग की षाण्मासिक शोधपत्रिका 'धीः' में प्रारम्भ से ही ''बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय'' शीर्षक से बौद्ध-तन्त्र ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का उन्हीं ग्रन्थों में दी हुई परिभाषाओं और उनके विविध अर्थों को संकलित कर प्रकाशित किया जाता रहा है। इस स्तम्भ के अन्तर्गत संगृहीत सामग्री की भूमिका तथा विविध अनुक्रमणियों के साथ बौद्ध-तन्त्र कोश (भाग-1), 1990 तथा (भाग-2), 1997 में प्रकाशित किया जा चुका है। दो भागों में प्रकाशित इस ग्रन्थ में 30 से अधिक बौद्ध-तन्त्र ग्रन्थों से सामग्री संकलित की गई है।

इधर कई वर्षों से, नये बौद्ध-तन्त्र ग्रन्थों के प्रकाशन के अभाव में उपर्युक्त स्तम्भ के अन्तर्गत शोधपत्रिका 'धीः' के प्रत्येक अंक में सामग्री-संकलन संभव नहीं हुआ। फिर भी, नये ग्रन्थों के प्रकाशित होने पर शोधपत्रिका के कई अंकों में सामग्री संकलित की गई हैं। लेकिन, अभी तक इन सामग्रियों को ग्रन्थ-रूप नहीं दिया जा सका। शोध-अध्येताओं की सुविधा हेतु शोध-पत्रिका के 19वें, 25वें तथा 29वें अंक में प्रकाशित पारिभाषिक शब्दों को संगृहीत कर अकारादिक्रम से अनुक्रमणी दी जा रही है। साथ ही, उन शब्दों की व्याख्या में आये अवान्तर पारिभाषिक-शब्दों की भी अलग से अनुक्रमणी दी जा रही है। उपर्युक्त अंकों में कल्कि श्रीपुण्डरीक विरचित लघुकालचक्रतन्त्रराज की टीका विमलप्रभा (भाग-3), तथागतरक्षित के निबन्ध और अलककलश की टीका सहित योगिनीसंचारतन्त्र तथा आर्यदेव विरचित चर्यामेलापकप्रदीप आदि ग्रन्थों से सामग्री संगृहीत है।]

•

अवान्तर पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

●

‘धीः’ : एक सिंहावलोकन
(अङ्क 16 से 30 तक)

—रञ्जनकुमार शर्मा—

[‘धीः’ एकमात्र शोध पत्रिका है, जो बौद्ध वाङ्मय के जिज्ञासुओं को, विशेषतः शोधकर्ताओं को विविध प्रकार की सूचनाओं से अवगत कराती है। इसमें प्रकाशित लेखों एवं दुर्लभ ग्रन्थों से सम्बद्ध जानकारी से पर्याप्त सहायता मिलती है, ऐसा हमें पाठकों के पत्रों से अवगत होता है। प्रत्येक अंक में क्या सामग्री है, यह जानना सबके लिए संभव नहीं है। अतः हमने निश्चय किया था कि कई अंकों में प्रकाशित सामग्री की सूचना कुछ अंशों के बाद एकसाथ दे दी जाय, जिससे शोधकर्ता अपनी इच्छित सामग्री चुन सकें। इसी उद्देश्य से ‘धीः’ के 1 से 15 अंकों तक की सामग्री की सूचना 15वें अंक में संकलित की गई थी और अब 16 से 30वें अंक तक की प्रकाशित सामग्री की सूचना इस अंक में दी जा रही है।]

अप्रकाशित स्तोत्र

सं०—जनार्दन पाण्डेय—

स्तोत्र	अंक	पृ०	स्तोत्र	अंक	पृ०
अचलस्तोत्रम्	27	3-4	6. अविवादस्तवः	23	5-8
आर्यतारानाम हृदयम्	20	1-2	1. अशक्यस्तवः	21	1-3
दुर्गतिशोधनयमान्तकस्तोत्रम्	29	1-2	8. उपकारस्तवः	24	4-6
बुद्धभट्टारकस्तोत्रम्	28	1-2	11. प्रभूतस्तवः	26	1-4
भगवत्स्तुतिः	27	1-2	4. बलवैशारद्यस्तवः	22	4-6
मञ्जुघोषस्तोत्रम्	19	3	7. ब्रह्मानुवादः	24	1-3
मूलतन्त्रोक्तः पञ्चाकारस्तवः	18	3-4	12. भवोद्वेजकः स्तवः	26	5-6
लोकनाथसुन्दराष्टकस्तोत्रम्	29	3-4	2. मूर्धाभिषेकस्तवः	21	4-10
वज्रविलासिनीसाधनस्तवः	17	3-4	5. वाग्विशुद्धिस्तवः	23	1-4
वर्णार्हवर्णे बुद्धस्तोत्रे—			10 शरीरैकदेशस्तवः	25	5-8
9. अप्रतीकारस्तवः	25	1-4	3. सर्वज्ञतासिद्धिस्तवः	22	1-3

•

दुर्लभ ग्रन्थ परिचय : परिशिष्ट
(अंक 16 से 30 तक)

•

उपर्युक्त विवृत ग्रन्थों में उपलब्ध ग्रन्थकार-नामानुक्रमणी

ग्रन्थकार	अंक	पृ०	ग्रन्थकार	अंक	पृ०
अभयाकरगुप्त	21	11	भिक्षु श्रीवीर्यश्रीमित्र	26	13
कमलनाथ (मञ्जुश्रीपरनाम)	16	8	रत्नसेन	21	22
कम्बलपाद	28	5	रत्नाकरशान्तिपाद	16	5
जगद्दर्पण	21	15	रविश्रीज्ञानपाद	21	24
जयमुनि	29	6	वागीश्वरकीर्ति	16	17
तथागतरक्षित	18	11	विजयवज्र	26	9
नागार्जुनपाद	26	7	विभूतिचन्द्र	16	15
पूर्णानन्दगिरि	19	8	विलासवज्र	16	11
भट्ट रत्नाकर	17	18	शबरपाद	17	6
भदन्त इन्द्र	23	9	साधुपुत्रश्रीधरानन्द	19	4
भिक्षु रविश्रीज्ञान	16	13	हरिभद्रपाद	21	25

•

लघु ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'धीः' में सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित ग्रन्थ

ग्रन्थ	अंक	पृष्ठ
अध्यात्मसारशतकम् (सटीकम्)	22	123-166
आर्यमहाप्रतिसराविद्याराज्ञीधारणी	28	127-142
कालचक्रपूजाविधि:	25	165-188
कालचक्रभगवत्साधनविधि:	24	127-174
कुरुकुल्लाकल्प:	30	211-250
(चक्रसंवर) मण्डलपूजाविधि:	26	135-137
डाकिनीजालचक्रवर्ति श्रीसंवररहस्यं नाम साधनम्	26	107-134
तत्त्वरत्नावलोक: (स्वोपज्ञविवरणसहित:)	21	129-149

•

लेखानुक्रमणी

•

लेखकानुक्रमणी

•

कुरुकुल्लाकल्पः

KURUKULLĀKALPAḤ

सम्पादन में प्रयुक्त आदर्श प्रतियाँ—

क. MBB-I-149, पत्र सं० 37, इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, न्यूयार्क।

ख. MBB-I-18, पत्र सं० 12, इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, न्यूयार्क।

ग. संख्या 13236, पत्र सं० 15, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा।

घ. संख्या 5/231, रील सं० ए० 141/15, पत्र सं० 31, राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू, नेपाल।

ङ. रील सं० सी० 473, पत्र सं० 30, केसर पुस्तकालय, काठमाण्डू, नेपाल।

च. संख्या 3/669, रील सं० ए० 968/9, पत्र सं० 20, राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू, नेपाल।

भो. तो० 437, འཕགས་མ་སྒྲོལ་མ་ཀུ་རུ་ཀུ་ལླེའི་རྟོག་པ།

कुरुकुल्लाकल्पे

प्रथमः कल्पः

ॐ नमस्तारायै

नष्टं गते चान्तर्हिते च तन्त्रे तारोद्भवे योगमहासमुद्रे ।
तारार्णवो नाम [1]महाधि[2]तन्त्रो नष्टे च तस्मिन् पुनरेष कल्पः ।। 1 ।।

उद्धृत्य तन्त्रेषु च विस्तरेषु योगान् प्रयोगान् बहुसत्त्वहेतोः ।
लोकेश्वरः कल्पमिदं बभाषे शृण्वन्तु सर्वे किल बोधिसत्त्वाः ।। 2 ।।

इमं नयं सर्वजनार्थकारि लोकं विलोक्याशरणं मयाद्य ।
त्रिदुष्टदुष्टेन विधेयमेतद् ग्राह्यो भवद्भिर्महताऽऽदरेण ।। 3 ।।

सर्वैरिदं बुद्धगणैः प्रणीतं कल्पं त्विदं लोकविकल्पशान्त्यै ।
श्रीपोतलके पर्वतके उवाच मञ्जुश्रिया पद्मभृता जयेन ।। 4 ।।

विष्कम्भिना सागरबुद्धिना च मैत्रेयप्रमुखैश्च गणैश्च सर्वैः ।
श्रुतो ह्ययं धर्मपदप्रबन्धोऽनुमोदितो वन्दित एव मूर्ध्ना ।। 5 ।।

बहुलीकृतं सर्वजिनौरसैश्च स्तुतोऽथवा गीतवरेण वाद्यैः ।
नाट्यैर्विचित्रैश्च प्रपूजुरेनं यक्षाः कुमाराश्च [3]सपक्ष(क्षि)लोकाः ।। 6 ।।

ऋक्षाः क्षितीशाऽशनिपाणयश्च [4]विरीतरङ्गेषु च ये वसन्ति ।
नागागणा(नागाङ्गना)[5]नागिनीवीक्षणेज्ञाः पातालपालाऽसुर-
सिद्धि(द्ध)कन्याः ।। 7 ।।

---

1 समाधि-भो० ।
2 तन्त्रे-ख.ङ.क. ।
3 प्रेत-भो० ।
4 विविध-भो० ।
5 नागिनी-नास्ति भो० ।

गन्धर्वराज्ञ्यः कुचलालसाश्च विद्याधरीः किन्नरयोषितश्च ।
यक्षाङ्गनाः पर्वतपुत्रपौत्रा एवं वदन्त्याश(श्र)यिनो वयं ते ।। 8 ।।

नाथोस्यनाथस्य हि लोकनाथ येनास्मि(स्ति) बुद्धस्य हि शासनेऽस्मिन्।
सौख्यं प्रजानां महदद्भुतं यच्छ्रुत्वा गणस्यास्य [1]वचांसि नाथः ।। 9 ।।

मन्त्रं स्वयं वश्यकरं बभाषे ताः सर्वनार्यः श्रुतमन्त्रराजाः ।
सौख्यं ययुर्बौद्धमनेक[2]कोट्यः श्रुकं (शुक्रं) क्षरन्त्याशु समा स्पृहन्ति ।। 10 ।।

चक्रावलोकेन [3]निरीक्षयन्ति भूमौ पतन्ति चरणौ [4]स्खलन्ति ।
मुञ्चन्ति शुक्रं वरयन्ति रागं [5][वज्रस्य स्पर्शेन दशामिमां गताः] ।। 11 ।।

एवं च दृष्ट्वा सुरसुन्दरीणां वचांसि नाथः समयं बभाषे ।
कुरुकुल्लमन्त्रे वशकृज्जनस्य मन्त्रेण सिद्धस्य पटस्य लेखे ।। 12 ।।

एवं तु श्रुत्वा भगवांस्त्रिलोके लोकेश्वरः कर्म उदाजहार ।। 13 ।।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि कुरुकुल्लायाः पटक्रियाम् ।
यस्या लिखितमात्रेण साधकः सिद्धिमाप्नुयात् ।। 14 ।।

येन चित्रकरेणेह यया तिथ्या च वेर(ल)या ।
तदहं कल्पयिष्यामि यथा तारोद्भवोदितम् ।। 15 ।।

[6]आताम्रनयनो यस्तु रक्तपाणिस्तथाङ्घ्रिमान् ।
[7]गजाक्षैणेयजङ्घश्च तेन लेख्या तु तारिणी ।। 16 ।।

---

1 वरांसि-क.ग.ङ.च. ।
2 कोट्टः-क.ग. ।
3 निक्षपयन्ति-ग.घ. ।
4 रवयन्ति-घ.ग.ख. ।
5 नास्ति-क.च, गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
6 आदौ-क.ख.घ.ङ. ।
7 पक्ष्यक्षै-भो० ।

वसन्तस्यादिमे मासि अशोकाष्टमिवासरे ।
सार्द्धप्रहरवेलायां तत्र लेख्या तु तारिणी ।। 17 ।।

त्रिमधुराशी [1]अमत्स्यादो मद्यमांसादिवर्जितः ।
रक्ताम्बरधरो नित्यं रक्तगन्धानुलिप्तकः ।। 18 ।।

मैत्रचित्तं समुत्पाद्य प्रातःस्नायी शिवालये ।
त्रिचैलपरिवर्ती च संलिखेद्वशकारिणीम् ।। 19 ।।

एकवक्त्रां विशालाक्षीं चतुर्भुजां कुङ्कुमोपमाम् ।
षोडशाब्दां सशृङ्गारां स्त्रीमायामददर्पिताम् ।। 20 ।।

गौरकुमारीकर्त्तितसूत्रेण कर्पटः कार्यः, तया च वस्त्रवायेन च क्षीरान्नं भोक्ता(ज्यम्) ।। 21 ।।

रक्तपद्मासनां रक्तपटाङ्गकोत्तरीयां रत्नताडङ्कितकिरीटिनीम्। सव्येऽभयप्रदां द्वितीयेन आपूरितशराम्। अवसव्ये चापधरां द्वितीयेन रक्तोत्पलधराम्! आरोलिकमुकुटिनीं कुरुकुल्लाचलगुह्या(हा)न्तस्थाम् ।। 22 ।।

कुरुकुल्लके राहुः, तस्योपरि कामः सपत्नीकः, कामस्योपरि चन्द्र-मण्डलं तत्र रक्तारविन्दासनं तत्रस्थसर्वचित्रकलाभिः भगवतीं निष्पाद्य पटं प्रतिष्ठाप्य तस्य पटस्याग्रतोऽष्टादशपूजां कृत्वा शुक्लाष्टम्या यावत्पूर्णमासि, मन्त्रं जपेदनेन मन्त्रेण ताराहृदयेन।। 23 ।।

ॐ कुरुकुल्ले ह्रीः हूँ स्वाहेति।। 24 ।।

ततो लक्षमात्रं पूर्वसेवां कृत्वा पुनः कार्तिकस्य वैशाखस्य आषाढस्य बुद्धपर्वण्यां तिथौ प्रातः [2]स्नातः पौषधिकः सर्वपूजां निवेद्य श्रावकसंघं भोजयित्वा पश्चाद् गणमन्त्रमहायानिकान् भोजयित्वा यथासिद्धौ विज्ञाप्य दक्षिणां दत्त्वा

---

1 मत्स्यादौ-भो०।
2 नास्ति-क.ख.घ.।

एकांसोत्तरासङ्गि दक्षिणं जानुमण्डलं पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्य येन श्रावकसंघः, येन महायानरतो गणस्तानभिवन्द्य क्षमाप्य यत्र च पट्टावतारिता भगवती तेनोपसङ्क्रम्य यथासिद्ध्यर्थं ध्यानोपेतो विद्याधरोऽक्षरलक्षं जपेत् ।। 25 ।।

अंशेनैव तृतीयेन विषाकर्षी भवेन्नरः ।। 26 ।।

सर्व[स्य] लोकस्य भवेत्स पूज्यः स्त्रीणां मदेनापि हि गर्वितानाम् ।
यथेच्छया मन्त्रधरो [1]विभुंक्ते अभ्यासयोगात् स हि सुन्दरीणाम् ।। 27 ।।

नाम्नापि तस्य विषमा गरलाः प्रयान्ति नागाः फणीन्द्रकिरणाः ।
ये जापयन्ति ह्यभिनिष्टचित्तं तेषां जिनानां कुशला भवन्ति ।। 28 ।।

विद्यामदोद्धतबलान् विदुषोऽप्यवाच्यान्
कुर्वन्ति वाग्विभवकेन जपेन युक्ताः ।
विद्याधरान् गजतुरङ्गमपृष्ठरूढान्
प्रौढाङ्गनापरिजनेन निगूढकण्ठान् ।। 29 ।।

विद्याबलैर्जयति मन्त्रविदां वरिष्ठान्[2]
निष्ठाकृतान् [3]मनसि राज्यसुखानुभोगान् ।
कामाद्रतिं गिरिसुतां गिरिशात्तथैव
नारायणात् श्रियमाखण्डलाच्छचीं च ।। 30 ।।

वाचां पतेरमलगीश्वरिणीं च शुक्लां
मन्त्रैर्विजित्य धरणीधरतोऽपि लक्ष्मीम् ।
नाना निधीन् मणिकुण्डलहैमरौप्य-
वस्त्रादिकं द्रविणजातिनिबद्धचित्तम् ।। 31 ।।

---

1 भुक्तो-क.ख.ग.घ.ङ.।
2 वरिष्ठो-च.।
3 मनसि...भोगान्-नास्ति क.घ.।

चित्तेन सर्वमखिलं परिहृष्य भुंक्ते
मन्त्रान्वितां भगवतीं परिभावयेद् यः ।
राज्यं नृपात् फलमतीन्द्रियकं च वृक्षात्
तोयं नदीह्रदसमुद्रगतं विकृष्य ॥ 32 ॥

मन्त्रान्वितः पिबति खादति [मन्त्र]पूतः
मन्त्रं विना न हि जनान् खलु भोगसिद्धिः ।
वन्यान् गजान् वरतुरंगमजन्मजातान्
[1]भोगान्वितान् फणिवरान् गरलोद्धतांश्च ॥ 33 ॥

नक्रेभऋक्षद्विपिनोऽप्यथ गण्डकांश्च
[2]दृष्ट्वा स्वमन्त्रबलसाहसकेन मन्त्री ।
आरोहते विगतविस्मयलोचनेन
मन्त्री दृशा यदि स पश्यति मन्त्रसिद्धः ॥ 34 ॥

कृपादृशा यदि विलोकयतीह लोकान्
दुःखाद्वियोगकुटिलाद्विषयान् स मन्त्री ।
उत्तार्य लोकमखिलं हि करोति शान्तिं
चिन्तामणिर्भवति लोकहिताय तारा ॥ 35 ॥

मारान् विजित्य वर्षेच्च निधानवृष्टिं
कल्पांघ्रिरूपमवतार्य जनाय दद्यात् ।
वित्तं धनेश्वरगतं निखिलं विकृष्य
संपादयेत्सकलसत्त्वहिताय पाकम् ॥ 36 ॥

वस्त्रं तथा कृपणलोकसमस्तहेतोः
पीठगृहच्छद्मयीह भवेच्च तारा ।

---

1 मृगान्वितान्-भो० ।
2 कृष्ट्वा-भो० ।

आपत्सु सर्वदुरितापहारं भवेच्च
सेतुर्विपन्नवणिजां च समुद्रमध्ये ।। 37 ।।

तां तारां भावयेद्योगी प्रथमं दुःखितायते ।
तामुपादिश्य दिनेनैव भोज्यलाभी भवेन्नरः ।। 38 ।।

द्वितीये वस्त्रलाभी स्याद्योषितां सङ्गमस्ततः ।
ततस्ताम्बूलभोक्ता च अयाचितयथेप्सितः ।। 39 ।।

यदि स्याद् ब्रह्मचारी तु भुंक्ते कन्यां सुराग्रजाम् ।
सत्त्वानां मारणे रक्ते(क्तो) न सिध्यतीह शासने ।। 40 ।।

दशकुशले रतो भूत्वा महायानैकचित्तकृत् ।
स भुंक्ते परमां सिद्धिं वज्रधर्मवचो यथा ।। 41 ।।

कुरुकुल्लायाः पटावतारणकल्पः प्रथमः ।। 1 ।।



द्वितीयः कल्पः

अथातः संप्रवक्ष्यामि येन तुष्यति धर्मता ।
धर्मपूजाप्रयोगेण धर्मधातुः स्वयं भवेत् ।। 1 ।।

अथ कल्पवृक्षसाधनं भवति।

वृंकाराक्षरसंभूतं कल्पवृक्षं विभावयेत् ।
उत्पलस्य परा[1]वृत्तं वृक्षं वामेन भावयेत् ।। 2 ।।

नानाधनमहावृष्टिं वर्षयन्तं नभस्तलात् ।
अर्थानां पूरयेदाशामिति ज्ञात्वा धनेश्वरः ।। 3 ।।

चतुर्द्वीपगतान् सत्त्वानाकृष्य चित्तरश्मिना ।
तेभ्यो दानं प्रदातव्यं सप्तरत्नमयं सदा ।। 4 ।।

परिणायकं महारत्नं रत्नं समुद्रजं तथा ।
स्त्रीरत्नाश्वरत्नञ्च खड्गरत्नं तथैव च ।। 5 ।।

इभरत्नं बहुरत्नानि बुद्धेभ्यो मनसा [2]त्यजेत् ।
स्त्रीरत्नमलंकृत्वा नानारूपा विलासिनीः ।। 6 ।।

बुद्धेभ्यो [3]मनसा देया बुद्धत्वफलकांक्षिणा ।
अनेन सर्वबुद्धत्वं विद्याधरः समश्नुते ।। 7 ।।

[4]मदाकाशैः (महाकारैः) सुसंपूर्णं परिणायकं धनेश्वरम् ।
बुद्धेभ्यः सादरं दद्यात् बुद्धत्वफलकांक्षया ।। 8 ।।

---

1 वृत्तं-नास्ति अन्यत्र, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
2 दद्यात्-भो०।
3 सर्वदा-भो०।
4 मदाकोशैः-घ. ङ. च.; मदाकाशं-ग.; རིན་པོ་ཆེ་ནི་ (रत्नैस्तु)-भो०।

एवमन्यानि रत्नानि सादरेण परित्यजेत् ।
वज्रधर्मत्वमाभुज्य सर्वसत्त्वार्थकृद्भवेत् ।। 9 ।।

[इति] कल्पवृक्षसाधनम् ।

चेतसा सर्वबुद्धत्वं चेतसैव विमुच्यते ।
चेतसा मोक्षते बन्धश्चेतसा मुक्तिमान् भवेत् ।। 10 ।।

चित्तं हित्वा पदार्थानां गतिरन्या न विद्यते ।
बुद्धत्वं सिद्धयः सर्वा यदुतान्या विभूतयः ।। 11 ।।

भाजना जङ्गमा ये तु भूतभौतिकसंभवाः ।
ज्ञानमात्रमिति ख्याता विपश्चिद्भिर्निराश्रवैः ।। 12 ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन चित्तादर्शं तु मार्जयेत् ।
प्रकृत्याऽऽगन्तवो दोषाः प्रहीयन्त इति क्रमात् ।। 13 ।।

निर्मलं पूर्णचन्द्राभं आदिस्वरसमुद्भवम् ।
चित्तचन्द्रं विभावित्वा बीजं तस्योपरि न्यसेत् ।। 14 ।।

ऊष्माणां चतुर्थं तु अग्निवर्णोपरि स्थितम् ।
इ(ई)कारेण समायुक्तं आकाशद्वयभूषितम् ।। 15 ।।

तस्य चित्रमयूखाभिः कृत्वा निर्मलिनं जगत् ।
[1]त्रिसहस्रादिधातुकं शोध्यं कुरुकुल्लपर्वतं गताः ।। 16 ।।

[2]संशोध्य च तया तारामानयित्वा [3]पुरस्करेत् ।
तस्माद्बीजान् महापूजामेघान् स्फारयेद् बुधः ।। 17 ।।

---

1 सहादि धातुकं - अन्यत्र, गृहीतं तु भोटानुसारि ।
2 संचोद्य-भो० ।
3 पुरस्कर्षेत-भो० ।

पुष्पं धूपं तथा दीपं गन्धनैवेद्यसञ्चयैः ।
लास्यमाल्यं तथा नृत्यगीतपूजादिभिस्तथा ।। 18 ।।

रत्नत्रयं मे शरणं सर्वं प्रतिदिशाम्यघम् ।
अनुमोदे जगत्पुण्यं बुद्धबोधौ दधे मनः ।। 19 ।।

इदं मन्त्रं त्रिधा वाच्यं ततः क्षन्तव्यमित्यपि ।
चित्तं मैत्रीविहारेण निवेष्टव्यं पुनस्तदा ।। 20 ।।

करुणाचित्तं समुत्पाद्य प्रामोद्य चित्तमावहेत् ।
पश्चादुपेक्षते सर्वं चित्तमात्रव्यवस्थया ।। 21 ।।

चित्तं शून्यं पुनः कुर्यात् प्राकृताहंकारहानयः ।
शून्यतावह्निना दग्धाः पञ्चस्कन्धाः पुनर्भवाः ।। 22 ।।

ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।
मुहूर्त्तं शून्यतायोगं कुर्याच्चित्तस्य विश्रमम् ।। 23 ।।

प्रतिज्ञां प्राक्तनां स्मृत्वा बीजमात्रं पुनः स्मरेत् ।
प्रतारिता मया सत्त्वा एकान्तपरिनिर्वृताः ।। 24 ।।

कथं तानुद्धरिष्यामि अगाधाद् भवसागरात् ।
इति मत्वा कृपाविष्टो निश्चेतां शून्यतां त्यजेत् ।। 25 ।।

धर्मधातुमयं चित्तमुत्पादयति चेतसा ।
बुद्धाधिष्ठानतो बीजमुत्पलाक्षस्ततो भवेत् ।। 26 ।।

उत्पले चन्द्रबिम्बं तु अकाराक्षरतोद्भवम् ।
तस्मिन् चन्द्रे पुनर्बीजं तस्यां गभस्तयो गताः ।। 27 ।।

ताभिर्विशोधितान् ध्यायान्निःशेषा लोकधातवः ।
शोध्यं बोध्यं तया सर्वरश्मिभिर्बुद्धकोटयः ॥ 28 ॥

विशतस्तानुत्पले ध्यायात्ततस्तारोदयो भवेत् ।
रक्तवर्णायुधा देवी सर्वालङ्कारभूषिता ॥ 29 ॥

समयमूर्त्तिं समासाद्य ज्ञानचक्रं समाकृषेत् ।
झटित्याकारनिष्पन्नं ज्ञानचक्रं पुरःस्थितम् ॥ 30 ॥

समयमुद्राप्रयोगेण मुखमार्गे प्रवेशयेत् ।
पाणिभ्यामञ्जलिं कृत्वा मांसलौ नामितौ यदा ॥ 31 ॥

द्वाभ्यां तु कृता सूची सूचीमध्ये त्वनामिकौ ।
[1]ललाभ्यां मध्यमौ श्लिष्टौ द्वावङ्गुष्ठावधो कृतौ ॥ 32 ॥

अनेन बन्धयेत् [2]मुद्रामनया चक्रं प्रवेशयेत् ।
अभिषेकं प्रार्थयेद्बुद्धानितिगाथां पठन् कृती ॥ 33 ॥

बोधिवज्रेण बुद्धानां यथा दत्तो महामहः ।
ममापि त्राणनार्थाय खवज्राद्य ददाहि मे ॥ 34 ॥

ददन्ति महाभूता राज्यमभिषेकनामतः ।
पुष्पाभिषेक[3]वद्राज्ञः पञ्चभिर्ल्लोचनादिभिः ॥ 35 ॥

अभिषेकं महावज्रं त्रैधातुकं नमस्कृतम् ।
ददामि सर्वबुद्धानां त्रिगुह्यालयसंभवम् ॥ 36 ॥

---

1 མཛུབ་མོ་གཉིས་-भो०

2 समयामनया-अन्यत्र, समयमुद्रा-भो०।

3 मातृकासु-वज्राद्यः, गृहीतस्तु भोटानुसारी।

बुद्धाभिषेकतस्तारा धर्मचूडामणिर्भवेत् ।
रक्तचित्रप्रभा भाति भासयन्ती जगत्त्रयम् ।। 37 ।।

प्राप्ताभिषेकरत्नं तु सर्वसिद्धिं प्रसाधयेत् ।
वर्षार्द्धदृढावेशात् यथोक्तविधिना पुरा ।। 38 ।।

त्रिसन्ध्यासु बलिं दत्त्वा मन्त्रेणानेन [1]शर्क्करैः ।
पिष्टकाद्यैर्विधानेन स्वप्नाभिज्ञानमाप्नुयात् ।। 39 ।।

खड्गपातालसिद्धिश्च अन्तर्द्धानरसायनम् ।
अदृश्यं खेचरत्वं च पादलेपाञ्जनं तथा ।। 40 ।।

[2]स्वप्नेन प्रत्यभिज्ञानं सिद्धिरुत्पद्यते स्वयम् ।
क्षुद्रसिद्धिं न साधयेत् यदि तारोद्भवे रतः ।। 41 ।।

चक्रवर्तिपदं राज्यं [3]महेन्द्रत्वं सार्वभोक्तृताम् ।
स्वप्नेनैव प्रसाधयेज्जापभावनयान्वितः ।। 42 ।।

[4]षण्मासान्तै(ने)कमासस्य सर्वां रात्रिं जपेद्व्रती ।
बद्ध्वा चैवोत्पलां मुद्रां जपन् मुद्रा ज्वलेत्क्षणात् ।। 43 ।।

तेन मुद्राप्रभावेण समाकृष्टाः [5]सयोषितः ।
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्ररुद्राद्या आगच्छन्ति वशीकृताः ।। 44 ।।

ततः प्रभृति सर्वात्मा सिद्धः संसारवासनात् ।
यथा पद्म समालिप्तं [6]पङ्कदोषेण वारिणा ।। 45 ।।

---

1 सशर्करैः-ङ च. ।
2 स्वप्नेन...भावनयान्वितः-नास्ति भो० ।
3 महीन्द्रत्वं-मातृकासु, गृ० तु भोटानुसारी ।
4 इतः पूर्वं स्वप्नेनैव प्रसाधयेत्-भो० ।
5 सर्वयो०-ङ च. ।
6 जन्म-सर्वमातृकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी ।

स्पृष्टे सूते यथा नैकः संहृतेनैकतां व्रजेत् ।
तथा सिद्धस्य चित्तानि सर्वज्ञत्वं गतानि तु ॥ 46 ॥

सिद्धे सूते च संसृष्टो [1]यथा स्वर्णो भवेन्निधिः ।
सिद्धमन्त्रेण संसृष्टो बुद्धकाया हि मन्त्रिणः ॥ 47 ॥

त्रिदशेश्वरतां यान्ति त्रैधातुकमहेश्वराः ।
बुद्धवंशे समुत्पन्नाः पुनश्चक्रप्रवर्तकाः ॥ 48 ॥

जातिं कुर्वन्ति प्रव्रज्यां बोधिमण्डोपसंक्रमम् ।
चरन्ति दुष्करां चर्यां बुद्धतां च स्मरन्ति ते ॥ 49 ॥

देवावतारनिर्माणं धर्मचक्रप्रवर्तनम् ।
परिनिर्वाणलाभं च श्मशानगमनं तथा ॥ 50 ॥

त्रैलोक्यधातुकं दत्त्वा संभोगैर्विग्रहैर्जिनाः ।
शुद्धावासं पुनर्यान्ति हित्वा निर्माणजां तनुम् ॥ 51 ॥

प्रवर्त्य धर्मकायं तु पुस्तकादिपटक्रमैः ।
स एव सिद्ध्यते मन्त्रस्तेन बुद्धेन भाषितः ॥ 52 ॥

कुरुकुल्ला अभिसमयकल्पो द्वितीयः[2] ॥ 2 ॥

•

---

1 यथा---संसृष्टो-नास्ति-घ.च.।
2 भोटपाठे पुष्पिका न वर्तते।

तृतीयः कल्पः

अथ ते सर्व[1] तथागतबोधिसत्त्वात्मनैवात्मचित्तपरिवितर्कानापद्य वज्रपाणिं [2]महाबोधिसत्त्वमेवमाहुः—कथं वज्रपाणिं(णे) बुद्धा भगवन्तो वज्रकाया धर्मधातुकायाः कस्मिन् पृथिवीप्रदेशे कालक्रियां कुर्वन्ति। अथ खलु वज्रपाणिस्तान् सर्व[3]बुद्धबोधिसत्त्वानेवमाह—यद्बोधिसत्त्वाः बुद्धा भगवन्तो वज्रकाया [4]धर्मकाया अभेद्यकाया धर्मधातुकाया कस्मिंश्चित् [दपि] पृथिवीप्रदेशे कालक्रियां कुर्वन्तीति।

तत आह [5]वज्रपाणिः। तत्रैव शृण्वन्तु बोधिसत्त्वा यद्भगवान् परिनिर्वृतः सुखावत्यां गतः।। 1।।

अथ बोधिसत्त्वाः प्रोचुः—किं वज्रपाणे! भगवन्तः [6]धर्मकायं प्रहाय सुखावतीं यान्ति? आह—कुलपुत्राः निर्माणकायं प्रहाय सम्भोगकायेन सुखावत्यां यान्तीति। आह—तत्कथं वज्रपाणे [7]धर्मकायं त्यक्त्वा यान्तीति? वज्रपाणिराह—यथा कश्चिन्मायावी पुरुषः प्रयोजनार्थं मायामवतार्य प्रयोजनं साधयेत्, तथा बुद्धा भगवन्तः पुरासिद्धाः सत्त्वानुग्रहहेतुना चक्रवर्त्तिनि निर्वृत्ते पुनर्जन्मपरिग्रहं चक्रुः, यदा बुद्धा निर्वृत्ताः भवन्ति तदा चक्रवर्त्तिनो भवन्ति, उभाभ्यां विगतो लोको न कदाचिदुत्पद्यते।। 2।।

विनयलोक[8]मासाद्य विजित्वा द्विपदोत्तमः।
संस्थित्वाऽशीतिवर्षाणि ययुर्बुद्धा जिनालयम् ।। 3।।

---

1 तथागत-नास्ति मातृकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
2 महा-नास्ति, क.ख.घ.ङ.।
3 बुद्ध-नास्ति मातृकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
4 धर्मकाया-नास्ति भो०।
5 वज्रपाणिः-नास्ति भो०।
6 कायं-मातृकासु सर्वत्र, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
7 धर्मकायं-मातृकासु नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
8 माश्रित्य-भो०।

बुद्धमायां परित्यज्य सुखावत्यां जिनालये ।
महाप्रशमसुखासक्तास्तिष्ठन्त्यानन्दरूपतः ।। 4 ।।

कर्ता नित्यैकसक्तासु मन्यन्ते ऋषयो मनः ।
एवं रूपं न तत्त्वेन क्षणिकं शून्यमिष्यते ।। 5 ।।

आत्मग्रहविपन्नानां नित्यं नित्यार्थकांक्षिणाम् ।
अनित्यतावताराय त्यक्त्वा कायं ययुर्जिनाः ।। 6 ।।

तेषां सर्वज्ञचित्तानां सर्वभावस्वभाविनाम् ।
इतःस्थानमितः स्थानं निश्चित्तं नैव विद्यते ।। 7 ।।

सांवृतं सत्यमाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशनाम् ।
प्रवर्त्तन्ते नभस्तुल्या विनेयाः [1]सुसहादिषु ।। 8 ।।

बुद्धोत्पादो न तत्त्वेन बुद्धनाशोऽपि नैव च ।
सर्वमेकरसीभूते नोदयो न व्ययस्तथा ।। 9 ।।

धर्मधात्वैकरूपास्ते पञ्चावृत्तिविवर्जिताः ।
गम्भीरोदाररूपेण संतस्थुस्तत्त्वरूपतः ।। 10 ।।

आदौ सत्त्वं गता नैव उभयोरन्यसम्भवात् ।
आदावेवास्वभावास्ते न निरुद्धा न भाविना(ता)।। 11 ।।

[2]बोधिसत्त्वाः प्रोचुः—

कथं मन्त्राः कथं तन्त्रः कथं मण्डलभावना ।
तत्कथं सिद्धयः सिद्धाः [3]सत्त्वानुत्पत्तिकारणात् ।। 12 ।।

---

1 त्रिसहस्रादिषु-भो०।
2 अत्र भोटे अधिकः पाठो वर्तते।
3 सर्वा०-भो०।

वज्रपाणिराह—

प्रतीत्यसमुत्पन्नानि वस्तूनि सम्भवन्ति हि ।
प्रतीत्य मन्त्रमुद्राद्यं सिद्धयः सम्भवन्ति तत् ।। 13 ।।

सिद्धयश्चापि संवृत्या बौद्धाः पारमिताश्रयाः ।
बुद्धत्वं वज्रसत्त्वं च संवृत्यैव प्रसाधयेत् ।। 14 ।।

कुरुकुल्लाया बोधिचित्तकल्पस्तृतीयः[1] ।। 3 ।।

•

1 भोटानुसारेण अत्र द्वितीयकल्पः समाप्तः।

चतुर्थः कल्पः

[1]अथातः संप्रवक्ष्यामि मन्त्रजापविधिक्रमम् ।
येन विज्ञातमात्रेण साधकः सिद्धिमाप्नुयात् ।। 1 ।।

विद्रुमेण तु वश्यं कुर्यात् [2]पुरुका विषनाशने ।
स्फटिकेन वर्द्धते प्रज्ञा त्रिषु कर्मसु योजयेत् ।। 2 ।।

योनिविशुद्ध्या अश्वत्थपत्राकारकुण्डे अशोककाष्ठैरग्निं प्रज्वाल्य विधिना रक्तोत्पला[3]नामष्टशतं जुहुयात्, नटनागफणिवैश्याग्निना मूलमन्त्रेण त्रिमधु-(शर्कराघृतमधूनि)रक्तानाम् ।। 3 ।।

पश्चाद् यन्त्रं भवति। रजस्वलाकर्पटे त्रिकोणमण्डलं विलिख्य मध्ये साध्यायाः साधकस्य च नामग्रहणेन चोदकपदश[त]मन्त्रितेन अमुकी मे वशीभवत्विति कृत्वा पश्चाद् मूलमन्त्रं विदर्भ्य लाक्षारसेनावसव्यानामिकारक्तेन कुंकुमेन कर्पूरेण कस्तूरिकाभिर्वर्णकैर्लिखेत्[4] ।। 4 ।।

प्रज्ञावर्द्धने तत्रैव कुण्डे अर्क्ककरवीरकाष्ठेनाग्निं प्रज्वाल्य विग्रह-होमाग्निना आटरूषकाणां वचाया अयुतं जुहुयात् ।। 5 ।।

विषनाशने तत्रैव कुण्डे चन्दनकाष्ठेनाग्निं प्रज्वाल्य पिण्डतगराणामयुतं जुहुयात्। सर्वविषाकर्षी भवति। नानारोगप्रपीडितानां पीडामपनयति। शान्तिं कुरुते गारुडविधितन्त्रः ।। 6 ।।

त्रैधातुकपथे रम्ये यावत्यो योषितः स्मृताः ।
[5]होमयन्त्रप्रयोगेण सर्वास्तदुपभुञ्जयेत् ।। 7 ।।

---

1 इतः पूर्वं ''प्रज्ञावर्द्धनविधिः'' इति भोटानुसारी शीर्षकः ।
2 पुष्कर-भो० ।
3 अष्ट-नास्ति ग.च. ।
4 लिखेत्-नास्ति अन्यत्र, गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
5 होममन्त्र-संस्कृतमातृकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी ।

रागावलोकना मैत्री तेन चित्तेन वश्यकृत् ।
कृत्वा वश्यं जगत्सर्वं बुद्धबोधौ नियोजयेत् ।। 8 ।।

इति वश्यविधिः ।।

सर्वाकारज्ञता नाम विना प्रज्ञा न लभ्यते ।
तीक्ष्णां समाधयेत् प्रज्ञां [1]होमजापप्रयोगतः ।। 9 ।।

सर्वधर्मप्रविचया धीः शुद्धा [च] स्फुरत्त्विषा ।
प्रज्ञापारमितास(सा) हि तया योगी विमुच्यते ।। 10 ।।

[इति] प्रज्ञावर्द्धनविधिः ।।

गृहाभिधानपत्राणि शटी यष्टीमधुस्तथा ।
ब्राह्मणी मागधी चैव सक्षौद्रां भक्षयेत् कृती ।। 11 ।।

[इति] प्रज्ञावर्द्धनी[य]तन्त्रः[2] ।।

[3]चण्डाली जालिकाश्चैव स्नेहमल्ली स्वशुक्रकम् ।
मृताः स्वोदरकीटाश्च वशीकुर्वन्ति भक्षणे ।। 12 ।।

[इति वश्य] तन्त्रः[4] ।।

सघृतं तगरमूलं च सुचक्राद्वा तथैव च ।
दंष्ट्राघाते प्रलेपेन पानेन च हरेद्विषम् ।। 13 ।।

[इति] विषनाशनतन्त्रः[5] ।।

---

1 तस्मात् तद्प्राप्तिकामः यत्–भो० इत्यधिकः।
2 औषधिः–भो०।
3 पूर्वं विषनाशनं अनन्तरं वश्यतन्त्रः–भो० क्रमः।
4 औषधिः–भो०।
5 औषधिः–भो०।

विषाकर्षाज्जगच्छान्तिः प्रज्ञावृद्ध्या च बुद्धिभिः (धीः)[1] ।
धर्मचक्रप्रवृत्तिश्च वश्यकृत् कुरुते क्षणात् ।। 14 ।।

नान्योपायो महायाने स्वपरार्थप्रसिद्धये ।
सकृदभ्यासिता विद्या सद्यः प्रत्ययकारिणी ।। 15 ।।

ह्रीःकारं मदनातपत्रनिहितं स्त्रीणां भवेच्छ्रा(द्र्रा)वकं
जिह्वायां च तदेव बुद्धिजननं हृन्मध्यके चैव तत् ।
दंष्ट्राणां परिभावितं विषहरं धर्माक्षरं सुन्दरं
ताराया हृदयं त्रिलोकविजयि ज्ञेयं कृपाशालिभिः ।। 16 ।।

वाचादोषपरिक्षयाद्विषहरी चित्तस्य दोषापहात्
प्रज्ञावृद्धिरुदाहृता तनुभवां दोषक्षयाद्वश्यकृत् ।
तस्मात्सर्वमिदं जगद् विकुशलैर्ग्रस्तं न सिद्धिं व्रजेत् ।
तेनात्रैव जिनौरस(सा) विकुशलै[2]र्दोषं कुरुध्वं हिताः ।। 17 ।।

मुद्राबन्धविशेषतस्तनुभवा दोषाः क्षयं यान्ति वै
मन्त्रक्षालितजिह्वया वदनजा दोषाश्च चित्तोद्भवाः ।
ध्यानाध्यासितचेतसामत इतः श्रद्धां कुरुष्वानघाः
काये वाचि मनस्यनाकुलतले तिष्ठन्ति बुद्धायेत् (यतः) ।। 18 ।।

निष्पापप्रसवेक्षणः करुणया त्रैलोक्यराजो भवेत्
दानात् पुण्यबलाधिको धनपतिर्मर्त्याधिपो वीर्यवान् ।
कौशीद्यापनयात् कृती निरयजं दुःखं न भुंक्ते क्षणात्
कारुण्यं धनदानवीर्यनिधनं बुद्धात्मजाः सेवथ ।। 19 ।।

---

1 बुद्धत्वमेव-भो० ।
2 निर्दोषं-क.ग.घ.च ।

[1]नित्यं ध्यानवशेन शुद्धहृदयो बुद्धान्न तत्त्यक्ष्यते
स्वप्नेनापि तथागतैः परिगतं चात्मानमीक्षन्सदा ।
नानाबुद्धविमानमेरुगमनं कालक्रियायां बुधाः
पश्यन्ति करुणात्मकान्नरकिनः पश्यन्ति पापां पुरीम्।। 20।।

अथविशुद्धितन्त्रः ।।

[2]कामो यत्र विषं तत्र बुद्धिस्तत्रैव तिष्ठति ।
अत एव कथं नाम [3]वागीशा पाण्डरा मता ।। 21।।

विषापहारिणी सैव हयग्रीवपदे स्थिता ।
रागवज्रपदोद्भूता वश्यं कुर्याज्जगत्त्रयम् ।। 22।।

रागकुलतन्त्रसिद्धिः ।।

अथापरोऽपि प्रयोगो भवति।

त्रिकोणं मण्डलं कृत्वा परं चापि त्रिकोणकम् ।
ऐन्द्रीं दिशं समारभ्य ॐकारादीन् लिखेत् कृती[4] ।। 23।।

षड्बीजं षट्सु कोणेषु धर्मबीजन्तु मध्यतः ।
फूःकारान्तर्गतं कृत्वा द्वारदेहलिके लिखेत् ।। 24।।

[इति] सर्प्पविदारणमन्त्रः ।।

---

1 पदस्य अस्य भिन्नपाठो वर्तते-भो०। ནམ་མཁའི་དཀྱིལ་དུ་སངས་རྒྱས་རྣམས་བཞུགས་བསམ་གཏན་སྟོབས་ཀྱིས་ སངས་རྒྱས་རྣམས་ལ་སེམས།

2 'कामो यत्र विषं' - नास्ति भो०।

3 योषिता-भो०।

4 बुधः-भो०।

अथापरोपि प्रयोगः स्त्रीणां सौभाग्यकरणाय। उत्पलं सप्तपत्रं कृत्वा सप्ताक्षराणि तत्र प्रयोक्तव्यानि तस्य पुष्करे ह्रीःकारद्वयविदर्भितं [1]साधकस्य साध्याया वा नाम वश्यविधिना लिखेत्। भूर्जे अथवा रजःस्वलाकर्पटे बाहौ विद्या[2]गतं कृत्वा परिधापयेत् ।। 25।।

पतिर्दासो भवेत् स्त्रीणां राजानः सेवकस्य च ।
शुचिना सुपवित्रेण इदं मन्त्रं समुद्धरेत् ।। 26।।

[इति] वश्यविधिः ।।

[3]अथ रक्षाचक्रं भवति।

चतुःपत्रोत्पलं कृत्वा मध्ये चन्द्रं ततो लिखेत् ।
पूर्वे चालिखेद्बाणं दक्षिणे चापमेव च ।। 27।।

पश्चिमे अभयपाणिं तु उत्पलमुत्तरे लिखेत् ।
अन्तरं मध्यचन्द्रे तु सप्तबीजेन वेष्टितम् ।। 28।।

बहिर्वेष्टितचक्रं तु उत्पलमालाविभूषितम् ।
भूर्जपत्रे विलिख्येदं स्वदोर्दण्डे विधारयेत् ।। 29।।

[इति] बालवृद्धतरुणानां [4]रक्षातन्त्रसिद्धिः।

अथ ईश्वर[5]प्राप्तुकामेन बीजपूरकं [6]विलिख्य तस्य मध्ये धनुर्लिखेत्। धनुषि रत्नाकारमुत्पलं लिखेत्, उत्पलकलिकामध्ये ज्रुँकारं सप्ताक्षरेण वेष्टितम्।

---

1 साध्यनाम-भो०।
2 गुडिकां कृत्वा-भो०।
3 रक्षार्थं यन्त्रं भवति-भो०।
4 रक्षायन्त्रस्वसिद्धिः-भो०।
5 कर्तु-संस्कृतमात्रिकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
6 विलिखेत्-ग.ङ. च.।

जातरूपपत्रे विलिखेदिदं गृहमूर्ध्नि धारयेत्। बहिरुत्पलमालावेष्टितं कृत्वा द्वादशाष्टम्यां पञ्चरत्नभूतकुम्भेनावतार्य स्नाप्य संपूज्य मन्त्र[1]शतं जपेत्। एकवर्षेण धनदसमो भवति। विद्यां[2] च तादृशीं परिधापयेत् ।। 30 ।।

अथापरोऽपि प्रयोगो भवति।

मध्याह्नवेलायां मङ्गलवारेण चित्तकपर्दकं प्राप्य करतले स्थाप्य कोटिं जपेत्। द्यूते जयो भवति। तं कपर्दकं कुरुकुल्लामन्त्रेणाष्टशतं जपेनारभ्य पूजां कृत्वा द्वादशाष्टमीषु स्नापयित्वा [3]अन्यकर्पटेन प्रावृत्य बाहौ धारयेत्। अनेन महाधनेश्वरो भवति। अथ तं कपर्दकं भाण्डे प्रक्षिप्य धरण्यां गोपयेत्। प्रतिदिनं कार्षापणं लभ्यते ।। 31 ।।

[इति] अर्थसिद्धि-राज्यसिद्धि-द्यूतलाभफलसिद्धितन्त्राः।

कुरुकुल्लाया[4]श्चतुर्थः कल्पः ।। 4 ।।

•

---

1 अष्टोत्तरशतं-भो०।
2 विद्यागुलिकां च-भो०।
3 पूजा-भो०।
4 तृतीयः कल्पः-भो०।

पञ्चमः कल्पः

अथातः संप्रवक्ष्यामि मण्डलस्य यथाक्रमम् ।
[1]रजसा दर्शनाद्यस्य बुद्धत्वं शीघ्रमाप्नुयात् ॥ 1 ॥

चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम् ।
तत्र मध्ये लिखेद् देवीं भगाकारां सुरञ्जिताम् ॥ 2 ॥

पूर्वेण [तु] लिखेद्बाणं दक्षिणे चापमेव च ।
पश्चिमे अभयपाणिं च उत्तरे उत्पलं तथा ॥ 3 ॥

कोणभागेषु सर्वेषु वज्रचक्रादयश्चतुः ।
रक्तवस्त्रोत्तरीयं च [2]रक्ताभरणमेव च ॥ 4 ॥

रक्तवस्त्रेण मुखं बद्ध्वा शिष्यं तत्र प्रवेशयेत् ॥ 5 ॥

अनेन सत्त्ववज्री मुद्रां बद्ध्वा चक्रे पुष्पप्रक्षेपणं कारयेत्। प्रतीच्छ वज्र होः मुक्त्वा मण्डलं दर्शयेत्। मध्ये पतति [3]वरं भवति। बाणे पतति वश्यकर्मणि योग्यो भवति। अभये पतति विषाकर्षणं शिक्षयेत्। उत्पले पतति प्रज्ञावृद्धिं शिक्षयेत्। धनुषि पतति सर्वज्ञज्ञानं शिक्षयेत्।

प्रवेशे एवं वदेत्। न त्वयेदं सर्वतथागतपरमरहस्यं कस्यचिदिदं मण्डलम[4]प्रविष्टस्य पुरतो वक्तव्यम्। मा ते समयो व्ययेति [5]विषमापरिहारेण कालक्रियां कृत्वा नरके पतनं स्यात्॥ 6॥

ततः पश्चात् समयं दद्यात्। [6]रत्नत्रयादिविस्तरतन्त्रसिद्धिशपथं दत्त्वा॥ 7॥

---

1 रजसां-ग.च.।
2 रक्ताभरणमेव च-नास्ति ग.च.भो०।
3 वरं भवति, बाणे पतति। नास्ति अन्यत्र, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
4 प्रविष्टस्य-अन्यत्र, गृहीतस्तु भोटानुसारी।
5 विषया-ग.च., विषमापरिहारेण-नास्ति भो०।
6 रत्नत्रयमपरित्यज्य इत्यादि विस्तरतन्त्रे सिद्धः-भो०।

बुद्धानां बोधिसत्त्वानां मन्त्रचर्याग्रचारिणाम् ।
हृदयेभ्यो महारक्तं तदा दुग्ध्वा भवान् पिबेत् ।। 8 ।।

धर्मराजमहासमयं यदि लंघसि मेऽन्तिकात् ।
अहं त्वया नावमन्तव्यो धर्मशासनपालकः ।। 9 ।।

रक्ताम्बरं सदा धार्यं रक्तमालानिबन्धनम् ।
रक्तगन्धानुलेपं च रक्तरत्नविभूषणम् ।। 10 ।।

ध्यातव्यं रक्तचित्तेन मन्त्रिणा रक्तचेतसा ।
सिन्दूरगैरिकैर्वापि रजोभिर्वर्त्तयेत्पुरम् ।। 11 ।।

हिंगुलं गैरिकं वापि कुंकुमं रक्तचन्दनम् ।
विद्रुमस्य द्रुतं चापि स कर्केतनपांशुना ।। 12 ।।

[1]होमे वा अथवा चक्रे प्रतिष्ठितं तथैव च ।
रक्तरूपयुतं सर्वं बुद्धकषायसूचकम् ।। 13 ।।

प्राणिनो न त्वया घात्या वक्तव्यं न मृषावचः ।
अदत्तं न त्वया ग्राह्यं न सेव्या परयोषितः ।। 14 ।।

कायिकं त्रिविधं कर्म वाचिकं च चतुर्विधम् ।
त्रिधा मानसिकं प्राहुरकुशलं जहीहि भोः ।। 15 ।।

धर्मामिषं तथा मैत्री अभयञ्च चतुर्विधम् ।
दानं सदा त्वया देयमभावाद्ध्यानकर्मणा ।। 16 ।।

चतुःसंग्रहवस्तूनि [2]शिक्षितव्यानि नित्यशः ।
दशपारमिता [3]भूमिबलानि वशितानि च ।। 17 ।।

---

1 होमे वा अथ वा कार्ये बुद्धकायाय सूचकम् ।। संस्कृतमातृकासु पाठः, गृहीतस्तु भोटानुसारी ।
2 सेवितव्यानि-भो० ।
3 काय-भो० ।

स्त्रीजनो नावमन्तव्यस्तारा नाम्नी विशेषतः ।
उद्ग्रा(द्वा)ह्या नैव सा नारी गृहस्थेनापि मन्त्रिणा ।। 18 ।।

नगरे निगमे ग्रामे जनपदे यत्र तारिणी ।
प्रतोल्यां चत्वरे वीथ्यां शृङ्गाटके च विशेषतः ।। 19 ।।

तत् स्थानं [1]बन्धयेन् नित्यं वर्णयेच्च सदार्पयेत् ।
तत्र स्थानस्थितो भूत्वा कुर्यान्मन्त्रादिसाधनम् ।। 20 ।।

तारानामापि या नारी रक्तगौरा सुलोचना ।
तां दृष्ट्वा सादरं योगी वन्दनं मनसा सृजेत् ।। 21 ।।

बन्धूकं दाडिमं पुष्पं करवीरं च जवां तथा ।
अन्यानि च रक्तपुष्पाणि लङ्घयेन्नैव साधकः ।। 22 ।।

एवं च संवरं दत्त्वा शुद्धं दिव्येन वारिणा ।
शिष्यं मन्त्रजलैः पूतं चतुःकुम्भस्य वारिणा ।। 23 ।।

आचार्यः स्नापयेत् क्रमशो बाणचापादिमुद्रया ।
प्रथमं बाणकुम्भेन द्वितीयं कार्मुकेन च ।। 24 ।।

तृतीयमभयकुम्भेन उत्पलेन चतुर्थकम् ।
शाक्यसिंहो यथा बुद्धैः पुत्रैर्वज्रधरादिभिः ।। 25 ।।

सिक्तो राज्याभिषेकेण तथा सिक्तो मया भवान् ।
अद्यैव सर्वबुद्धत्वं त्वया प्राप्तं हि मण्डले ।। 26 ।।

रजसा दर्शनाद् बुद्धाः सुप्रसन्ना भवन्ति हि ।
नात्र वो मरणं रोगात् शोकान्न च दरिद्रता ।। 27 ।।

---

1 वन्दयेत्-भो० ।

त्वया प्राप्ता तु संबोधिर्यानादस्मान्महासुखात् ।
[1]चतुर्णामभिषेकेण कृत्वा सद्धर्मभाजनम् ।। 28 ।।

गुह्यदानानि शिष्याय दातव्यानि विधिक्रमैः ।
[2]भाषितं मण्डलं दिव्यं सर्वबुद्धैरधिष्ठितम् ।। 29 ।।

चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम् ।
हारार्द्धहाररचितमष्टस्तम्भोपशोभितम् ।। 30 ।।

तस्य कोणे लिखेद्वज्रं रत्नचन्द्रांशुमालिनम् ।
मध्ये चापि लिखेच्चक्रमष्टवज्रांशुमालिनम् ।। 31 ।।

चन्द्रस्योपरि लिखेद्वज्रं वज्रमालाविभूषितम् ।
ज्वरन्तं (लन्तं) शरच्चन्द्रांशुपूर्णेन्दुमिव निर्मलम् ।। 32 ।।

अष्टौ च कलशाः स्थाप्याः पञ्चमहोषधिसंयुताः ।
पञ्चधान्यपञ्चरत्नपञ्चपल्लवशोभिताः ।। 33 ।।

पञ्चपूर्णामृता वस्त्रयुगपरिवेष्टिताः ।
सितचन्दनलिप्ताङ्गाः पुष्पमालाविभूषिताः ।। 34 ।।

नानाखाद्यनि(नै)वेद्यैश्च दीपमालासुशोभिताः ।। 35 ।।

ततो विजयकलशमष्टशताभिमन्त्रितं कृत्वा पञ्चमहोषधीभिश्च व्रीहिपञ्चरत्नैश्च पञ्चभिरङ्गैः सितकृष्णरक्तपीतहरितैरलंकृतं संस्थाप्य संभाव्य च।

वितानविततं चैव नानाध्वजैरलंकृतम् ।
पुष्पमालाप्रलम्बं च सुगन्धं धूपधूपितम् ।। 36 ।।

1 बाणादिचतुरभिषेकेण-भो० ।
2 भाषितं मण्डलं.....अभिमन्त्र्य विधिक्रमैः-नास्ति भो० ।

शिष्यं तत्र प्रवेशयेद्वस्त्रयुगेन मुखवेष्टितम् ।
ततो दन्तकाष्ठकं दद्यादुष्णीषचक्रवर्तिनि ।। 37 ।।

चन्दनलिप्ताङ्गानि स्रग्दाममालाविभूषितानि च। ॐ मारीच्यै स्वाहेति-मन्त्रेण सर्वोपकरणान्यभिमन्त्र्य विधिक्रमैः ।। 38 ।।

तत्र प्रथमं तावन्नागाक्षपणं [1]गुह्यं शिक्षयेत्—

नमो रत्नत्रयाय। नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः। नमोऽष्ट[2]सर्प्पपुङ्गलाय। नमः समस्तेभ्यो बुद्धकोटिभ्यः। तद्यथा। ॐ ह्रीः ह्रीः ह्रीः सर्वानन्तनागानां अनन्त-कुलानां वासुकिकुलानां तक्षककुलानां शंखपालकुलानां कर्क्कोटककुलानां पद्मकुलानां महापद्मकुलानां कुलिककुलानां वाराहककुलानां पुण्डरीककुलानां धनककुलानां मेघकुलानां जलदकुलानां जलधरकुलानां जीमूतकुलानां संवर्त्तककुलानां वसन्तकुलानां ऐरावतकुलानां कुमुदकुलानां कह्लारकुलानां सौगन्धिककुलानां हन हन शरेण बन्ध बन्ध चापेन ताडय ताडय उत्पलेन भीतानभयं देहि देहि प्रलयकाल इव जलधरमवतारयन् वर्षन् नागान्वशी कुरु कुरु फूः कुलापय कुलापय फूः कुरुकुल्ले ह्रीः हूँ स्वाहा ॐ कुरुकुल्ले ह्रीः हूँ फट् स्वाहा। फडित्यनेन मन्त्रेणापतितगोमयेन मण्डलकं कृत्वा विधिना चन्दनेनाष्ट-दलपद्मं विलिख्य पूर्वादिदले अनन्ताद्यानष्टनागान् संस्थाप्य शर्क्करया गुग्गुलेन रोहिणीऋक्षे अष्टोत्तरशतं जप्त्वा नागानां धूपं दत्त्वा पश्चात् पूजयेत्। [3]वर्षयन्ति, यदि न वर्षयन्ति तदा मद्येन स्नापयित्वा खदिरानलेन तापयेत् ततो वर्षयन्ति। यदि न वर्षयन्ति तदा कुष्ठानि भवन्ति। क्रियाभोजिना विद्याधरेणैव तत् कर्तव्यम्। पश्चात्संहार्य महानद्यां प्रवाहयेत् ।। 39 ।।

देवो वर्षतु कालेन शस्यसंपत्तिरस्तु च ।
लोको भवतु स्फीतश्च राजा भवतु धार्मिकः ।। 40 ।।

इति परिणामना ।।

---

1 गुह्यं-नास्ति भो०।
2 सर्प्य-भो०।
3 वर्षयन्ति-नास्ति भो०।

अतिवृष्टिं स्तम्भयितुकामः व्याडवैद्यकत्वात् नागमाकृष्य चन्दनेन मुक्षयित्वा क्षीरं पाययेत्। अनेन मन्त्रेण सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा अपक्वलोहितकुम्भे निधाय महामुद्रेण मुद्रयित्वा जपेत् [1]जले कुम्भं भञ्जयेत्। तत्क्षणं वृष्टिं स्तम्भयति।। 41।।

गणाय भोजनं पश्चात् श्रावकायाथ मन्त्रिणे ।
[2]ददेदाखानपानाद्यैरिति तुष्यन्ति पन्नगाः ।। 42।।

यदि चैव न कुर्वन्ति मन्त्रिणो वारिपातने(नम्) ।
कुष्ठा भवन्ति नागानामपरितोषणकारिणः ।। 43।।

तेन राजानैरपि सपुत्रान्तःपुरैः स्नानं कृत्वा प्रत्यंगिरापञ्चम्यां प्रत्यंगिरा-मूलानि रजतपात्रे क्षीरेण सर्पिषाथवा पातव्यानि तं रजतपात्रं प्रक्षाल्य भिक्षवे दद्यात् वर्षं यावत्। सर्प्पेभ्यो भीतो न भवति। तस्यैव सर्पस्याशुभकर्मणा यदि दंशति तदा म्रियते सप्ताभिमन्त्रेण सिद्धिः।। 44।।

अथ कुष्ठमपनेतुकामेनानेन मन्त्रेण [3]लोहितविषं निर्विषीकृत्य भक्ष-येत् कुष्ठमपनयति। मूलमन्त्रेण वारि जप्त्वा सर्पघातकं प्रक्षालयेत्। निर्विषं कुरुते।। 45।।

अथ नागदर्शनकामेन रक्तोत्पलपत्रं अक्षरलक्षं जप्तं कृत्वाधिष्ठानं नागह्रदे प्रक्षिपेत्। ततो नागाङ्गना उत्तिष्ठन्ति साधकादादेशं मार्गयन्ति किं कुर्याम आदिशतु भवानिति। यथेप्सितं मन्त्रिणा वक्तव्यम्।। 46।।

कुरुकुल्लामण्डलपटलकल्पः [4]पञ्चमः ।। 5।।

•

---

1 जले-नास्ति भो०।
2 दारदारक-भो०।
3 लोहितविषं-नास्ति भो०।
4 चतुर्थः-भो०।

षष्ठः कल्पः

अथ राहुलभद्रकुमारो यदा [1]पिण्डपात्राय राजगृहं प्रविष्टः, प्रविष्टश्च वेणुवनं गतवान्। तत्र पात्रप्रक्षालनाय दीर्घिकामवतीर्णः यशोधरासुतेन श्वेतभिक्षुभ्रान्त्याऽऽकृष्टः। तस्मिन् समये राहुलभद्रकुमारेणेयं विद्या पठिता। पठितमात्रेण यथा कश्चित्स्वगृहान्निष्क्रान्तस्तथा राहुलभद्रकुमारो भगवतोऽन्तिके गतः। उपसंक्रम्य भगवन्तमेतदवोचत्-[2]यत् त्वयायं मन्त्रः प्रसादीकृतस्तस्य मन्त्रस्यानुभावो मया दृष्ट इति। भगवानाह—कुत्र? नागानामन्तिकात्, तद् भगवानन्येषामपि प्राणिनां रक्षार्थमिदमेव मन्त्रं प्रवर्त्तयतु। अथ भगवान् तस्मिन् समये इदं मन्त्रमस्य कल्पं वज्रपाणिनं प्रेषयित्वा श्रावकाय बोधिसत्त्वाय भिक्षुभिक्षुण्युपासकोपासिकाभ्यः प्रसादीकृतवान्। तेन भोः कुलपुत्र! इदं मन्त्रमस्य कल्पं ये पठन्ति चन्दनेन मण्डलं कृत्वा। तस्य शरीरे न विषदूषणं न विषनाशनं न लूतभयं न पामाभयं न कुष्ठभयं [3]न रोगभयं न नागभयं न व्यालभयं न मृगभयं न शस्त्रभयं न शत्रुभयं न दारिद्रभयं नाकालमृत्युभयं भविष्यति ।। 1।।

अथ च भगवान् शासनरक्षार्थं महाकालाय स्वपिण्डपात्रपुष्टां हारितीं राक्षसीं दत्तवान्। सा च पौर्वीकेनाशुभकर्मणा दुर्भगाऽभूत्। असंप्रतिपन्नो महाकालो न तिष्ठति न रमते न शासनं रक्षति। सा च राक्षसी उद्विग्ना। तस्यैव महाकालस्य च वशीकर्त्तुमिदं कुरुकुल्लाकल्पं भाषितम्।

ततः प्रभृति महासौभाग्यमभूत्। तेन हि कुलपुत्राः सर्वसत्त्वानां वशीकरणाय इदमेव मन्त्रमस्य कल्पमभ्यसनीयमिति।। 2।।

अथ सुनन्दपुत्रोऽभिरूपः प्रासादिको दर्शनीयो लाक्षणिको जातः। किन्तु जडबुद्धिः। अथ सुनन्दो भगवन्तमेतदवोचत्—भगवन्! मम पुत्रोऽभिरूपः प्रासादिको दर्शनीयो लाक्षणिको जातः किन्तु ज़डबुद्धिः। तत् कथं भगवन् प्रज्ञा

---

1 पिण्डाय-भो०।

2 तात त्वया मे-भो०।

3 नास्ति संस्कृतमातृकासु, गृहीतस्तु भोटानुसारी।

वर्द्धते। यदि भगवन्नसौ वत्सः साक्षरो भवेत् तदा युष्मच्छासने [1]प्रतिपन्नो भविष्यति। एवं श्रुत्वा भगवानभिमुखीं स्मृतिमुपस्थाप्येदं कल्पमिदं मन्त्रमभाषत। तेन भाषितमात्रेणासौ सुनन्दस्य पुत्रो रोहिणीकुमारो नाम प्रज्ञावानभूत्। द्वादशवर्षेण सर्वशास्त्रविशारदः [2]सर्वकल्पकुशलाभिज्ञोऽभूत्। तेन हि [3]पुत्रा महाप्रज्ञावृद्धये इदमेवमन्त्रमस्य कल्पं वा शिक्षणीयमिति ।। 3 ।।

कुरुकुल्लाया निदानकल्पः षष्ठः ।। 6 ।।

•

1 अनुरक्षको-भो०।
2 सर्वशिल्पस्थानेषु-भो०।
3 कुलपुत्राः-भो०।

सप्तमः कल्पः

अथ भगवान् खेचर[1]रससिद्धिमुवाच—

गृहीत्वा सूत्र(त)कं सम्यक्[2]गिरिदोषादिवर्जिते ।
शिलागर्त्तगतं कृत्वा लोकनाथेन मर्दयेत् ।। 1 ।।

[3]पुनर्द्ध[4]र्मरसैः क्षाल्य यवतिक्तकया तथा ।
आखुपूर्णारसेनापि मर्दयेच्च दिनत्रयम् ।। 2 ।।

वन्ध्याकाकोलिका [5]क्षीरैः क्षीरैर्भास्करवज्रयोः ।
अविद्धश्रवणतोयेन स्तन्यमिश्रेण मर्दयेत् ।। 3 ।।

तं सूतं कांजिकेनापि सप्तधा क्षाल्य मर्दयेत् ।
लोहपात्रे समावेश्य वृद्धदारकवटे पचेत् ।। 4 ।।

कनकपुष्पां तु पिण्डेनाधरोपरि वेष्टिता ।
[दक्षिणा]वर्त्तयेत्सूतं मूलमन्त्रस्य लक्षतः ।। 5 ।।

[6]पाषाणं तेन मन्त्रेण गन्धसूर्येण भावितम् ।
वह्नावयोमये पात्रे चूर्णयोगेन जारयेत् ।। 6 ।।

किंचिज्जीर्णे तु पाषाणे खपत्रं सकलं ग्रसेत् ।
जातरूपं ततः पश्चादस्यैव माक्षिकं पुनः ।। 7 ।।

---

1 रस-नास्ति भो० ।
2 रस-भो० ।
3 पुनर्द्धर्म....मिश्रेण मर्दयेत्-नास्ति-ग. ।
4 धर्मकायैः-भो० ।
5 पत्रैः-भो० ।
6 जपित्वा-भो० ।

तारशुल्वं तत्समं जार्य्यं तीक्ष्णं पञ्चगुणं तथा ।
षड्गुणं जारयेत्सर्वं भवेदर्क्कसमप्रभः ।। 8 ।।

तस्य गुञ्जेन पुञ्जानि वेधयेत्तु विचक्षणः ।
माषया चपलं विद्ध्वा सिद्धं जानाति सूतकम् ।। 9 ।।

वज्रमार्यस्नुहीक्षीरैः मेषशृंगसमन्वितम् ।
सिद्धे सूते जारयेद्वज्रं छुछुन्दर्याङ्गसम्भवैः ।। 10 ।।

अनेन वन्धिते सूते मरकतादि च जारयेत् ।
चक्षुषा मौक्तिकं जार्य्यं कुरुकुल्लायोगवित्सदा ।। 11 ।।

कणमात्रं हरेन्नित्यं स्त्रीणां कामयते शतम् ।
सप्तरात्रप्रयोगेण खेचरत्वं भवेत्कृती ।। 12 ।।

[इति] रसखेचरतन्त्रसिद्धिः ।

कुरुविन्दं पिष्टिकं कृत्वा बकुलबीजस्य मूषिके ।
रक्तकञ्चुकिमूषायां [1]लोहिकायां तु धामयेत् ।। 13 ।।

ससूते चैवमित्यस्य मृत्युरेव न संशयः ।
पले रौप्ये तु तं मार्ग्य पले षष्टिपलैः पुनः ।। 14 ।।

[2]पर्वतानपि विन्धेत कुरुते तारपर्वतम् ।
तार[3]पातालसिद्धिः स्यात्तया सत्त्वार्थमाप्नुयात् ।। 15 ।।

सत्त्वार्थात्पुण्यसंभारं संभाराद्बोधिरुत्तमा ।। 16 ।।

इति तारसिद्धितन्त्रः ।

---

1 लोहितायां-भो० ।

2 ཟང་དང་མཉམ་པར་བསྒྲུབ་བྱས་ནས། དངུལ་གྱི་རིལ་བུ་བྱེད་པ་ཡིན།

3 रौप्य-भो० ।

[1]नीलक्रोण्ठो(?) यथोद्दिष्टो नीलचित्रक उच्यते ।
क्षीरेण तं पिबेद्योगी मासेनाब्दसाहस्त्रिकः ।। 17 ।।

कृष्णां कलम्बिकां मन्त्रैरालम्ब्य क्षीरभाजने ।
अष्टम्यां प्राशयेद्योगी जीवेच्चन्द्रार्क्कतारकम् ।। 18 ।।

हरिद्राभ्रामरीं लब्ध्वा क्षीरेणालोड्य तां पिबेत् ।
[2]वलीपलितविहीनः स्यात् पौषधेन पिबेद्यदि ।। 19 ।।

ब्रह्मपुरोहितानान्तु जीवितं स्यान्न संशयः ।
यत्र तत्र स्थितानां तु वटानां [3]कलकं तथा ।। 20 ।।

गृहीत्वा कर्क्कटीरूपान् क्षीरेणालोड्य तं पिबेत् ।
वलीपलितविहीनः स्यात् पोषधेन यदि क्रिया ।। 21 ।।

इति रसायनसिद्धितन्त्रः ।

कुरुकुल्लाया रसायनतन्त्रकल्पः सप्तमः ।। 7 ।।

•

1 नीलक्रुन्तो-भो० ।
2 वली....पिबेद्यदि-नास्ति भो० ।
3 फलं-भो० ।

अष्टमः कल्पः

[1]अथ भगवानौषधिप्रयोगानुवाच—

[2]पुत्रेण कार्या(र्यो) वटवृक्षपुष्पं क्षीरैः समालोड्य पिबेद् व्रतस्थः ।
तस्यापि नारी च सपोषधेन पिबेत् स पुत्रवरः सुभाग्यः ॥ 1 ॥

मन्त्रेण चानेन वचाफलानि दुग्धेन पिष्ट्वा तु पिबन्ति यास्तु ।
पुत्रं लभन्ते नृपलक्षणेन ता योषितः पोषधिका यदि स्युः ॥ 2 ॥

लक्ष(क्ष्म)णाक्षमूलं पयसा पिबेद् या स्नानावशेषे लभते सुपुत्रम् ।
सिद्धार्थमूर्तिं परिपूर्णदेहं [3]शस्त्रेण शास्त्रेण विशारदीकृतम् ॥ 3 ॥

उन्मूलयित्वा जलशीतलाया आदाय मूलं निहितं शिरोजे ।
सप्ताभिमन्त्रीकृतकं तदेव नाशेज्ज्वरान् वार्षिककान् क्षणेन ॥ 4 ॥

आदाय मूलं कनकस्य योगी चातुर्थिकेनापि निपीडितस्य ।
शिरोरुहे तं परिधाय योज्य ज्वरगृहीतस्य ज्वरानपास्येत् ॥ 5 ॥

इष्टवाल(इक्ष्वार) [4]मूलं लवणारनालं द्विरेफराजस्य रसेन युक्तम् ।
ताम्रे च पात्रे स्तनघृष्टपिष्टं करोति काचस्य विनाशनञ्च ॥ 6 ॥

मूलं समुन्मूल्य [5]सितोच्चटस्य दुग्धेन पिष्ट्वा तु पिबेद्यथेष्टम् ।
[6]ऊर्ध्वं भवेल्लिङ्गवरं नृपाणां मन्त्रेण चानेन शतार्द्धजप्तम् ॥ 7 ॥

---

1 अथ........वाच–नास्ति भो० ।
2 पुत्रकामा–भो० ।
3 लक्षणेन लक्षितं–भो० ।
4 धूमं–भो० ।
5 फलो–भो० ।
6 व्यतिक्रमो वर्तते पाठस्य अत्र भोटानुसारेण एकादशमः श्लोकोऽस्ति ।

गोरोचनं निर्दशनस्य लोलां नृराजमूलानि शुभे च ऋक्षे ।
कार्यं च तेन तिलकं ललाटे मध्ये त्रिलोकस्य वशाय युक्तम् ॥ 8 ॥

मृतस्य नेत्रं हृदयं च लोलां ललाटमांसं च तथैव नासिकाम् ।
संगृह्य पिष्ट्वा च विपाच्य तैलं पुष्ये च ऋक्षे वशकृज्जनस्य ॥ 9 ॥

फणीन्द्रराजस्य शिरोऽञ्जनेन रक्तेन [1]शुक्रेण कुसुम्भनाम्ना ।
तेनाञ्जनेनाञ्जितलोचनास्तु राज्ञो महिषीं वशमानयन्ति ॥ 10 ॥

नागाभिधाना हि वला प्रसिद्धा दुग्धान्विता सा च करोति लिङ्गे ।
[2]बलं सशुक्रं सजलं जनानां मन्त्रेण चानेन शतार्द्धजप्तम् ॥ 11 ॥

अनेन मन्त्रेण शतार्द्धजप्तौ पादाववनौ यत्र निवेशयेच्च ।
जानन्ति वित्तानि महीं गतानि तयोर्द्वयोः स्पन्दनमात्रकेण ॥ 12 ॥

पादौ शिरः स्फुरति चोर्ध्वगतो भवेच्च
तद्दूरगे द्रविणमस्ति वदन्ति सिद्धाः ।
यत्रास्ति वित्तमिति सौत्रपुरस्सरेण
विद्याधरेण वसुधातलशिक्षितव्यम् ॥ 13 ॥

छुच्छुन्दरिकाचूर्णं गुग्गुलसार्धं प्रलेपमात्रेण ।
मत्तद्विपकलिते पथि तेनाभ्यस्तः सुखं प्रयाति ॥ 14 ॥

अत्यन्तकृष्णा कुक्कुरीपयसि समुत्थितेन सर्पिषा लिप्तम् ।
करभत्वङ्निष्पन्नं पादुकमाक्रम्य नीरे भ्रमति ॥ 15 ॥

पिंगलकाकसकूचकण्ठकं गृहमध्ये गोप्य कन्दवालस्य ।
मदिरानाशनं कुरुते तस्योन्मूलेन भद्रिका भवति ॥ 16 ॥

---

1 མིང་ངན་གཙོད། -भो० ।

2 མཚན་མ་སྙོབས་བསྐྱེད་བུ་འཕེལ་བུ་ཚ་བསྐྱེད། -भो० ।

पाके कुलालरचिते वज्राहतकाष्ठवापनाद्वह्निः ।
न ज्वलतीति [1]न चित्रं मद्यसेकात्प्रज्वलति ।। 17 ।।

मन्त्रं जप्त्वा मूल्यं प्रसार्य वृत्तिं लोकानाम् ।
विक्रयमकरोद्योगी अतिवित्ता भवन्ति वणिजाः ।। 18 ।।

मर्क्कटगूथाक्षेपाद्वीजेन मदिरा नाग(श)तां याति ।
वकुलोदकलेपाद्भाण्डं तच्च पुनः योग्यम् ।। 19 ।।

वकुलदलवारिसेवनात् स्थानलाभवन्ति मातराः ।
सदा धूपाद्भूतकेशात्काषायप्रावृताच्चापि ।। 20 ।।

स्वल्पमुद्गिरतो बालो लेपात् शिखिपिच्छभस्मनो गलके ।
स्वस्थः स्यात् पुनरेतद्योगवरप्रभावेण ।। 21 ।।

[2]पदशशका विधियुक्ता विदधति शीशकदले सदा खनिताः ।
बन्धनशस्त्रानीते नागवदनोदरनिहिताः ।। 22 ।।

क्ष म र य कारैर्युक्ताः पिण्डाश्चेकारभूषिताः सर्वे ।
पद[3]शशकानामन्तश्च[4]तुरस्रः योजयेद्धीमान् ।। 23 ।।

[5]ऐकारो बिन्दुरेकः क ष इति च त टः षष्ठवर्ग्गान्तसंस्थो
बीजं वायोररन्ध्रं ज्वलनपरिगतं बिन्दुशून्योत्तमाङ्गम् ।
आग्नेयाच्चात्तवर्गः प्लुतमपरततः सर्ववर्णाग्रसंस्था
एते संपत्तिमग्रां विदधति न(नि)यतं नामयोगं विनैव ।। 24 ।।

दृष्टप्रत्ययोऽयं संप्रयोगः ।

---

1 अग्निः-भो० ।
2 पदकवका-भो० ।
3 कवका-भो० ।
4 སྒྲོ་ང་བཞི་དང་ཚད་གསུམ་གཉིས་གཉིས་སྦྱིན།-भो० ।
5 ऐकारो......संप्रयोगः-नास्ति भो० ।

दण्डोत्पलशरपुंखानि चूलगिरिकर्णिकायाश्च तोयेन ।
सप्तनिषेकं दत्त्वा शीशकपत्रे लिखेद्धीमान् ।। 25 ।।

हडिनिगडानां बद्धं शस्त्राणां वर्षणं च संग्रामे ।
अन्येषामप्यप्रीतिं निहन्ति सिद्धं महामन्त्रम् ।। 26 ।।

बाहौ विद्यां कृत्वा यो धत्ते मन्त्रराजमभिलिख्य ।
स भवति धनदसमाढ्योऽक्षयवित्तोऽधृष्यश्च ।। 27 ।।

ॐ कुरुकुल्ले ह्रीः हूँ स्वाहेति अनेन मन्त्रेण ।
पात्रमालभ्य देशे दुर्भिक्षतरे भिक्षुर्भिक्षाशनं लभते ।। 28 ।।

उत्पलकन्दकशेरुं क्षीरेणालोड्य या पिबेन्नारी ।
स्तम्भयति सा गर्भं नियतं तत्कर्म स्वकेनापि ।। 29 ।।

मागधिकापञ्चफलं पिष्ट्वा दुग्धेन या पिबेन्नारी ।
प्रसवति सा सुखयुक्ता एतन्मन्त्रप्रभावेण ।। 30 ।।

निम्बवारुणं पत्रं पिष्ट्वा वज्रोदकेन तस्याः ।
योनौ लेपं दद्यात्प्रसवति नारी सुखपातान् ।। 31 ।।

गजमागधिका सवचोऽश्वगन्धा माहिष्यञ्च नवनीतम् ।
वलायुक्तो योगः कुरुते स्तनसाधने वृद्धिम् ।। 32 ।।

[1]कुम्भाण्डीफलयुक्तो योगः कुरुते मूलसाधने वृद्धिम् ।
अशने भुंक्ते सर्वथा वा तोयं पिबेच्च नासिकया ।
शिरसोऽकालपलितं स्तम्भयति स मन्त्रयोगात्मा ।। 33 ।।

---

1 कुम्भाण्डी......वृद्धिम्–नास्ति भो० ।

अवन्तिकाया मूलं काकमाचीकनकबीजसंयुक्तम् ।
कर्पूरनीरपिष्टं वराङ्गलेपाद्द्रवन्ति घननार्यः ।। 34 ।।

अच्युतसुरता विरता न वशति पतौ नादरं च कुर्यात् ।
मारणमपि विदधाति तच्च्युतिहेतोरयं लेपः ।। 35 ।।

[1]सुकरे तैलाधारे दीपं प्रज्वाल्य सुरतसंगमेऽपि ।
आशुकामोऽपि नरो यः सुचिरं श्रोण्यां वशे(से)न्नार्याः ।। 36 ।।

वज्रानले गृहदाहे मद्यं प्रोष्यन्ति ये नरा मन्त्रैः ।
निर्वापयन्ति वह्निं योगोऽयं लोकनाथसंगदितः ।। 37 ।।

[2]अथापरोऽपि प्रयोगो भवति।

चन्द्रमण्डलमध्ये दशदलमुत्पलं लिखित्वा प्रत्येकदलाग्रे ॐ तारे तुत्तारे स्वाहेति विलिख्य वरटकेऽपि तांकारमध्ये देवदत्तं वशमानयेति। तांकारमपि ॐ अः कुरुकुल्ले देवदत्तं वशमानय ह्रीः इत्यनेन वेष्टयेत्। चन्द्रमण्डलबहिः ॐ प्रसन्नतारे प्रसन्नकारिणि देवदत्तं वशीकुरु ह्रीः इत्यनेन मन्त्रेण वेष्टयित्वा बहिः षोडशदलमुत्पलं विलिख्य प्रत्येकदलाग्रे ॐ प्रसन्नतारे प्रसन्नकारिणि ह्रीः देवदत्तं वशीकुरु ह्रीः इत्यनेन मन्त्रेण वेष्टयित्वा त्रिषोडशभिरक्षरैर्वेष्टयेत्। लाक्षागोरोचनेन रक्तचन्दनेन कुङ्कुमकर्पूरकैः भूर्ज्जपत्रे सिक्थकेन वेष्ट्य त्रिमधुरे स्थाप्य रक्तोपचारेण त्रिसंध्यं पूजयेत् वशीभवति न संदेहः।। 38 ।।

अथापरोऽपि प्रयोगो भवति। षोडशदलमुत्पलं विलिख्य प्रत्येकदले अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः चन्द्रमण्डलमध्ये वरटकेऽपि। ॐ हः कुरुकुल्ले देवदत्तं वशमानय हः स्वाहा। उत्पलबाह्ये ॐकारपंक्तित्रयेण परिवेष्ट्य वशीभवति। एवमवोचन्नाथः पर्षन्मध्ये स्थिताश्च ये सत्त्वाः पोतलके पर्वतराजे परदुःखदुःखितो भगवान् ।। 39 ।।

---

1 शूकर-भो०।
2 अथाऽपरोऽपि.......परिवेष्ट्य वशीभवति-नास्ति भो०।

तन्नास्ति [1]यन्न बुद्धभूताः सत्त्वार्थकारिणो नियतं नेयमपूर्वा चर्या नष्टा नैनां पुनश्चक्रुः ।। 40 ।।

इदमवोचद्भगवानार्यावलोकितेश्वर [2]आत्तमनास्ते च बोधिसत्त्वाः महासत्त्वाः सा च सर्वावती पर्षत् सदेवमानुषासुर[3]गरुडगन्धर्वश्च लोको अवलोकितेश्वरभाषितमभ्यनन्दन्निति ।। 41 ।।

इति श्रीभगवत्यार्यताराया: कुरुकुल्लाकल्पोऽष्टमः समाप्तः[4] ।। 8 ।।

●

1 संपन्न-ग.घ.।

2 आत्तमनास्ते...सा च-नास्ति भो०।

3 गरुड-नास्ति भो०।

4 ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः ।।
नेपालाब्द गगणसागरमागे मास ज्येष्ठकृष्णाष्टमी संपूर्ण कृतमिति। लिखितं तं लाच्छिटोल ध्वाका बालहेनाकर महाविहार श्री 3 वज्रदेवीचरणस्य वितब्रह्मपुत्रनदिपार ह्वासानाम क्षत्र द्योरास्य पास सोव्यपालस्य चोना व्येलरश्च पुस्तक चोया जुल शुभम्-क.।

ཅོམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

དཔལ་འཇིགས་རྗེད་དབང་ཕྱུག་ཀུན་ཏུ་དགའ་བ་མཛེས་པ་བརྒྱད་པའི་བསྟོད་པ་དང་། དཔལ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་མཛེས་པ་བཅུ་དྲུག་པའི་བསྟོད་པ་འདི་གཉིས་པོ་ནེའུ་ཡོཀ་གཙུག་ལག་སློབ་ཁང་ (Institute for Advance Studies of World Religions, NewYork) ནས་དེ་སྔ་དཔར་སྐྲུན་མ་ཟིན་པའི་རྩ་བའི་མ་དཔེ་འཇིགས་རྗེད་དབང་ཕྱུག་གི་ཚིགས་བཅད་བསྡུས་པ་ཞེས་པ་ལས་བླངས་པ་ཞིག་ཡིན།

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་སྔ་མ་གཉིས་ཀྱི་ནང་སློབ་དཔོན་འཕགས་པ་ལྷས་མཛད་པའི་སྤྱོད་པ་བསྡུས་པའི་སྒྲོན་མའི་ལེའུ་དང་པོ་གསུམ་གྱི་བསྡུས་དོན་བསྟན་ཟིན་པ་དང་། འདོན་ཐེངས་འདིར་གཞུང་དེའི་ལེའུ་བཞི་པ་ཡིད་དབེན་ (ཕྱག་རྒྱའི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་) དང་ལེའུ་ལྔ་པ་ལས་ཀྱི་མཐའ་རྣམ་པར་འབྱེད་པ་ཧིན་སྐད་དུ་ཕབ་བསྒྱུར་གྱིས་བཀོད་ཡོད།

དུས་དེབ་འདིའི་ནང་བཪྗོད་གཞི་འདིའི་འོག་སློབ་དཔོན་དཔལ་བརྩོན་འགྲུས་བཤེས་གཉེན་གྱིས་མཛད་པའི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ཡེ་ཤེས་གྲུབ་པའི་རྒྱ་ཆེར་འགྲེལ་གྱི་ནང་གསལ་བའི་ལུང་འདྲེན་ཁག་ཕྱོགས་བཏུས་བྱས་པ་བཀོད་ཡོད། གོང་གསལ་གྱི་ཕྱག་དཔེ་དེ་འདི་ག་མཐོ་སློབ་ཁང་གིས་ཆེས་དཀོན་ནང་པའི་གསུང་རབ་སྡེ་ཚན་གྱི་པོད་ཕྲེང་གི་ཁོངས་སུ་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་ཡོད།

ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཁག་གི་ཕྱོགས་བཏུས། ཁ་སྐོན། ༢༧ - ༤༢

དྷཱིཿདུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་དང་པོ་ནས་བརྒྱད་པའི་བར་བཀོད་པའི་ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཁག་ཕྱོགས་བཏུས་བྱས་པ་རྣམས་ཕྱོགས་གཅིག་ཏུ་“ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཕྱོགས་བཏུས་”དེབ་དང་པོ་སྤྱི་ལོ་ ༡༩༩༠ ལོར་ལོགས་སུ་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་ཡོད། དེའི་རྗེས་སུ་འདོན་ཐེངས་དགུ་པ་ནས་བཅུ་བཞི་པའི་བར་དུ་བཀོད་པའི་ཁ་སྐོན་སྣ་ཚོགས་དུས་དེབ་བཅོ་ལྔ་པའི་ནང་དཔར་བསྐྲུན་བྱས་ཡོད། དེའི་རྗེས་ཀྱི་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འགའ་ཤས་སུ་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་ཁ་སྐོན་སྣ་ཚོགས་ཡོད་པ་ནས། དུས་དེབ་བཅུ་དྲུག་པ་ནས་སུམ་ཅུ་པའི་བར་དུ་བཀོད་པའི་ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཁག་གི་ཁ་སྐོན་རྣམས་ད་ལན་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་བཀོད་ཡོད། དེ་དང་མཉམ་དུ་དྷཱིཿའདོན་ཐེངས་ཉི་ཤུ་པའི་ནང་བཀོད་པའི་ཟུར་ཆག་སྐད་ཀྱི་གསུང་རབ་རྣམས་ཀྱི་དཀར་ཆག་ཀྱང་སློབ་གཉེར་བ་རྣམས་ལ་ཉམས་ཞིབ་ཀྱི་མཐུན་རྐྱེན་བདེ་བླག་ཏུ་ཐོབ་ཆེད་བཀོད་ཡོད།

སྔགས་བཏུའི་སྐོར་ལ་དཔྱད་པ། ༤༣ - ༧༣

སྔགས་ཀྱི་བསྟན་བཅོས་རྣམས་སུ་གཟུངས་སྔགས་ནི་རང་ཆས་ཀྱི་ཚུལ་དུ་གནས་ཡོད། རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ཞུ་བསྒྲིགས་བྱེད་སྐབས་གཟུངས་སྔགས་ཞུས་དག་བྱེད་རྒྱུ་ནི་དཀའ་ངལ་གྱི་གནས་ཞིག་ཡིན། དཀའ་ངལ་འདི་འདྲ་བ་འགའ་ཞིག་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་གསལ་བའི་སྔགས་བཏུའི་ཚིག་ལས་བསལ་ཐུབ། ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་འཁོར་ལོ་བདེ་མཆོག རྡོ་རྗེ་འཇིགས་བྱེད། ཧེ་རུ་ཀ། ཀྱེ་རྡོ་རྗེའི་རྒྱུད་བཅས་ཀྱི་གཟུངས་སྔགས་འགའ་ཞིག་གི་སྔགས་བཏུའི་ཚིག་རྣམས་ལ་དཔྱད་པ་བྱས་ཤིང་། དེ་དང་ལྷན་དུ་ཐབས་ཚུལ་འདིའི་སྒོ་ནས་གཟུངས་སྔགས་སྒྲུབ་ཚུལ་དཔེ་དང་བཅས་པ་བསྟན་ཡོད།

སྔགས་བླ་མེད་རྒྱུད་ཀྱི་རྡོ་རྗེའི་ལུས་ལ་དཔྱད་པ། ༧༣ - ༨༤

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ནང་སྒོམ་སྒྲུབ་ཀྱི་ཐབས་ལ་བསྐྱེད་རིམ་དང་རྫོགས་རིམ་གཉིས་ཡོད། སྒྲུབ་

ཐབས་འདིའི་མཐར་ཐུག་ནི་རྫོགས་རིམ་ཡིན། ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་རྫོགས་རིམ་གྱི་སྒྲུབ་ཐབས་ལ་གཞི་རྟེན་རྡོ་རྗེའི་ལུས་དང་། དེ་ལ་ཉེ་བར་མཁོ་བའི་དངོས་པོ་དེ་དག་གི་སྐོར་ལ་བཤད་ཡོད། རྫོགས་རིམ་སྒྲུབ་ཐབས་ཀྱི་གཞིར་གྱུར་པའི་དངོས་པོ་ལ་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས། སྟོང་པ་ཉིད། སྙིང་རྗེ། རྩ་(དབུ་མ་དང་རྐྱང་མ་དང་རོ་མ་) རླུང་དང་ཐིག་ལེ་ལ་སོགས་པ་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་ལ་མདོར་བསྡུས་ཏེ་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད།

ཆོས་དཀོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ། ༨༤ - ༡༡༡

ཧྥཱ༔དུས་རབ་འདོན་ཐེངས་ཉེར་དགུ་པའི་ནང་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་དགུ་བཅུ་གོ་གཅིག་གི་སྐོར་བསྟན་ཟིན་པ་དང་། འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་དེ་འཕྲོས་ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་བདུན་ཅུ་དོན་ལྔའི་སྐོར་གྱི་གནས་ཚུལ་བཀོད་ཡོད།

ཆོས་དཀོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ། ཁ་སྣོན།
(དུས་རབ་ ༡༦ ནས་ ༢༠ བར་) ༡༡༢ - ༡༣༩

ཧྥཱ༔དུས་རབ་དང་པོ་ནས་བརྒྱད་པའི་བར་གྱི་ནང་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་ཕྱི་ནང་ཡུལ་གྲུ་ཁག་གི་དཔེ་མཛོད་ཁང་དུ་བདག་གཉེར་བྱས་པའི་གལ་ཆེ་བའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་ཉིས་བརྒྱ་བདུན་ཅུ་དོན་གཅིག་ཙམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་ཞུས་པ་རྣམས་ཕྱོགས་བསྡེབས་ཀྱིས་ཆོས་དཀོན་གསུང་རབ་ཀྱི་རྩ་བའི་མ་དཔེའི་དེབ་དང་པོ་སྤྱི་ལོ་ ༡༩༩༠ ལོར་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་ཡོད། དེ་རྗེས་དུས་རབ་དགུ་པ་ནས་བཅུ་བཞི་པའི་བར་དུ་གསལ་བའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་རྣམས་ལྷན་ཐབས་ཀྱི་ཚུལ་དུ་དུས་རབ་བཅོ་ལྔ་པའི་ནང་བཀོད་ཡོད། ཧྥཱ༔དུས་རབ་དགུ་པ་ནས་ཉེར་གཅིག་པའི་བར་དུ་འཕོད་པའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་རྩ་བའི་མ་དཔེ་ཆིག་སྟོང་ཆིག་བརྒྱ་བཞི་བཅུ་ཞེ་བརྒྱད་ཡོད་པ་རྣམས་ཆོས་དཀོན་གསུང་རབ་ཀྱི་རྩ་བའི་མ་དཔེ་དེབ་གཉིས་པའང་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་ཟིན།

འདོན་ཐེངས་འདིར་རྡྷིཿདུས་དེབ་བཅུ་དྲུག་པ་ནས་ཉེར་དགུ་པའི་བར་དུ་བཀོད་པའི་གསུང་རབ་ཁག་དང་དེ་དག་མཛད་པ་པོའི་མཚན་བྱང་རྣམས་ཉམས་ཞིབ་པ་རྣམས་ལ་སྟབས་བདེའི་ཐོག་ནས་རྙེད་ཐབས་སུ་ཀ་མད་རིམ་པ་བཞིན་བཀོད་ཡོད།

སྙན་རྒྱུད་རྗེས་འབྲངས་ཀྱི་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་མངོན་པར་བྱུང་བ། ༡༣༧ - ༡༦༨

རྡྷིཿདུས་དེབ་བཅུ་གསུམ་པའི་ནང་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་མངོན་པར་བྱུང་བའི་འགོ་བརྗོད་ཀྱི་འོག་དགོངས་རྒྱུད་དང་། བར་རྒྱུད། སྙན་རྒྱུད་བཅས་གསུམ་པོ་དེ་དག་གི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས་ཞུས་ཡོད། འདོན་ཐེངས་འདིར་སྙན་རྒྱུན་རྗེས་འབྲངས་ཀྱི་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་མངོན་པར་བྱུང་བ་ཞེས་པའི་ངོ་སྤྲོད་སྤྱིར་བཏང་ཙམ་ཞུས་ཡོད།

བཤེས་སྤྲིངས་དང་དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་གྱི་ལེགས་སྦྱར་དུ་བསྒྱུར་གསོའི་སྐོར་ལ་བསྒྱུར་ཞིབ། དང་པོ། ༡༦༩ - ༡༧༨

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་སྤྲིངས་དང་སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་སྤྲིངས་ཡིག་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་གཉིས་ལེགས་སྦྱར་དུ་བསྒྱུར་གསོ་བྱེད་སྐོར་དང་སྦྲགས། གཞུང་དེ་དག་གི་པར་མ་མི་འདྲ་བ་ཁག་གི་སྐོར། གཞུང་གི་གལ་གནད། སྟོན་པ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་སྩལ་བའི་ཆོས་འཁོར་རིམ་པ་གསུམ་པོ་དྲང་ངེས་འབྱེད་ཚུལ། གཞུང་གི་བརྗོད་བྱའི་སྐོར། སློབ་དཔོན་གྱི་བྱུང་རིམ་དང་གྲུབ་མཐའ། སློབ་དཔོན་གྱི་མཛའ་གྲོགས་རྒྱལ་པོ་མཐར་འགྲོ་བཞིན་གོ་ཏམིཔུཏྲའི་སྐོར་བཅས་གསལ་བཤད་མདོར་བསྡུས་བྱས་ཡོད།

ཐེག་ཆེན་གྱི་མདོ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བཀར་སྒྲུབ་པ། ༡༧༩ - ༡༨༦

ཐེག་ཆེན་དང་ཐེག་དམན་གཉིས་ཀ་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ནས་བྱུང་བའི་ཆོས་ངོ་མ་ཡིན། ཐུབ་པ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཆོས་འཁོར་རིམ་པ་གསུམ་གའི་ནང་དེ་དག་གི་གདམས་ངག

བསྟན་ཡོད། དོན་ཀྱང་གནས་བརྟན་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་གསུང་མ་ཡིན་པ་བཞེད་ཀྱི་ཡོད། ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་གོང་གི་ལོག་རྟོག་ཐམས་ཅད་བསལ་ཕྱིར་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ་ནས་ལུང་ཁུངས་བླངས་ཏེ་ཚད་མ་དང་བཅས་པའི་སྒོ་ནས་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བཀའ་ཡིན་པར་སྒྲུབ་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་བྱེད་ཡོད།

ནང་པའི་ཐུན་མིན་ཆོས་ཚིག་རྣམས་ཀྱི་ཀ་མད་རིམ་པ། ཁ་སྟོན། ༡༨༧ - ༡༩༢

ཀླིཿདུས་རབ་ཀྱི་འདོན་ཐེངས་འདིར་ཉམས་ཞིབ་པ་རྣམས་ལ་གཟིགས་བདེའི་ཆེད་དུས་རབ་དགུ་པ། ཉི་ཤུ་རྩ་ལྔ་པ་དང་། ཉི་ཤུ་རྩ་དགུ་པའི་ནང་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་པའི་ཆོས་ཚིག་བཏུས་པ་རྣམས་ཀ་མད་རིམ་པ་བསྟན་པ་དང་ཆབས་ཅིག ཆོས་ཚིག་དེ་དག་གི་འགྲེལ་པའི་ནང་ནས་བྱུང་བའི་ཆོས་ཚིག་རྣམས་ཀྱི་ཀ་མད་རིམ་པའང་ལོགས་སུ་བཀོད་ཅིང་། སྔར་བསྟན་པའི་དུས་རབ་རྣམས་སུ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་(ཀལྐིཔུཎྜརཱིཀ) གིས་མཛད་པའི་བསྡུས་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་འགྲེལ་བཤད་དྲི་མེད་འོད་ཀྱི་དེབ་གསུམ་པ་དང་། རྣལ་འབྱོར་མ་ཀུན་ཏུ་སྤྱོད་པའི་རྒྱུད། དེ་ལ་ཏཐཱགཏརཀྵིཏས་མཛད་པའི་བཤད་སྦྱར་དང་ཨལཀ་ཀལཤས་མཛད་པའི་འགྲེལ་པ། སློབ་དཔོན་འཕགས་པ་ལྷས་མཛད་པའི་སྤྱོད་པ་བསྡུས་པའི་སྒྲོན་མ་ལ་སོགས་པའི་གཞུང་རྣམས་ལས་བྱུང་བའི་ཐུན་མིན་ཆོས་ཚིག་རྣམས་བཏུས་ཏེ་བཀོད་ཡོད།

ཀླིཿདུས་རབ་ཁག་ལ་བསྐྱར་ཞིབ། (དུས་རབ་༡༨ ནས་༢༠ བར) ༡༩༣ - ༢༡༠

ནང་པའི་གཞུང་ལ་དོན་གཉེར་ཅན་རྣམས་དང་ལྷག་པར་དུ་ཉམས་ཞིབ་པ་རྣམས་ལ་གནས་ཚུལ་འདྲ་མིན་གྱི་སྐོར་བསྟན་པའི་ཉམས་ཞིབ་དུས་རབ་ནི་ཀླིཿའདི་གཅིག་པུ་རེད། དུས་རབ་འདིའི་ནང་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་པའི་ཆེད་རྩོམ་ཁག་དང་ཆེས་དཀོན་གསུང་རབ་དང་འབྲེལ་བའི་སྐོར་ལ་ཤེས་རྟོགས་ཡོང་བའི་ཕན་གྲོགས་རྒྱ་མི་ཆུང་བ་ཐོབ་ཀྱི་ཡོད་པ་ནི་རྒྱ་ཆེའི་ཀློག་པ་པོ་རྣམས་ཀྱི་གསུང་འཕྲིན་ལས་ཤེས་རྟོགས་བྱུང་སོང་། དུས་རབ་འདོན་ཐེངས་རེ་རེའི་ནང་ཆེད་རྩོམ་ཇི་ཡོད་སྐོར་ཚང་

མས་མཁྱེན་དཀའ་བས། ང་ཚོས་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འགར་བརྟོན་པའི་ཆེད་རྩོམ་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འགའ་ཤས་ཀྱི་རྗེས་སུ་བསྡུས་ཏེ་མཉམ་འདོན་བྱ་རྒྱུའི་ཐག་གཅོད་བྱས་ཤིང་། དེ་ལས་ཉམས་ཞིབ་པ་རྣམས་ཀྱིས་རང་ཉིད་ལ་མཁོ་བའི་ཆེད་རྩོམ་ཁག་གི་གནས་ཚུལ་འཚོལ་ཐུབ་པའི་ཆེད་དུ་དཔར་སྐྲུན་ཟིན་པའི་དྷཱིཿདུས་དེབ་དང་པོ་ནས་བཅོ་ལྔ་པའི་བར་གྱི་ཆེད་རྩོམ་རྣམས་ཕྱོགས་བསྡེབས་བྱས་ཏེ་དུས་དེབ་བཅོ་ལྔ་པའི་ནང་བཀོད་ཡོད། འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་དུས་དེབ་བཅུ་དྲུག་པ་ནས་སུམ་ཅུ་པའི་བར་གྱི་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་པའི་ཆེད་རྩོམ་རྣམས་ཀྱི་སྐོར་བཀོད་ཡོད།

འཕགས་མ་སྒྲོལ་མ་ཀུརུཀུལླེའི་རྟོག་པ། ༢༡༡ - ༢༤༠

དྷཱིཿདུས་དེབ་ཀྱི་འདོན་ཐེངས་འདིར་འཕགས་མ་སྒྲོལ་མ་ཀུརུཀུལླའི་རྟོག་པ་ཞེས་བྱ་བའི་གཞུང་ཞིག་དཔར་སྐྲུན་ཞུས་ཡོད། གཞུང་འདི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་མ་དཔེ་ཁག་དྲུག་དང་བོད་འགྱུར་པར་མ་བཅས་ལ་གཞི་རྟེན་བྱས་ཏེ་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཡོད། གཞུང་འདིའི་ལེགས་སྦྱར་དང་བོད་འགྱུར་གཉིས་ཀྱི་ནང་རྟོག་པའི་འབྱེད་མཚམས་ལ་མི་མཐུན་པ་ཅུང་ཟད་དང་སྐབས་འགར་པར་མའི་ཁྱད་པར་ཡང་ཕྲན་བུ་ཡོད་པ་རྣམས་འོག་མཆན་དུ་བཀོད་ཡོད། གཞུང་འདི་ནི་རྗེ་བཙུན་འཕགས་མ་སྒྲོལ་མ་དང་འབྲེལ་ཞིང་གནད་ཆེ་བའི་རྟོག་པའི་གཞུང་ཞིག་ཡིན།

• • •

ABSTRACT OF ARTICLES

Śrīlokeśvarānandasundarāṣṭakam 1-4

These two hymns viz. *Śrīlokeśvarānandasundarāṣṭakam* and *Śrītriratnasundaraṣoḍaśīstotram* have been taken from '*Lokeśvaragāthā-saṁgraha*', unpublished manuscript obtained from the Institute for Advance Studies of World Religion, New York.

Cittaviveka and Karmāntavibhāga 5-16

In the previous issues, three chapters of Ācārya Āryadeva's *Caryāmelāpakapradīpa* had been given in brief. In the current issue, the Hindi translation of the fourth chapter *Cittaviveka* (*Mudrātattva*) and fifth chapter Karmāntavibhāga are being presented.

Compilation of Lost Bauddha Vacanas 17-26

Under this title in the present issue *Vacanas* cited in the *Marmakalikā*, the commentary of *Tattvajñānasaṁsiddhi* by Ācārya Vīryaśrīmitra have been collected and being presented. The above mentioned text has been published under Rare Buddhist Texts Series of the Tibetan Institute, Sarnath.

Compilation of Lost Bauddha Vacanas : Appendix 27-42

Under the above title the *Lupta Bauddha Vacana Saṅgraha* Vol. I, with extracts from Ist to 8th issues of the *Dhīḥ* journal have been published separately in 1990. Subsequently, various appendixes of material of *Dhīḥ* from Vol. 9 to 15 have already been given in Vol. 15. After that in some issues material have been published under the same title. In the present issue appendix of *Lost Bauddha Vacanas* mentioned in from Vol. 16 to 30 are being given. Along with it an index of *Apabhraṁśa Vacanas* collected

from the 20th issue is also being presented, so that research materials are easily accessible to the researchers.

Mantroddhāra : A Review *43-72*

In tantra texts mantras are closely connected. At the time of editing of tantric texts, preciseness of mantras became a problem. Some solution of the problems can be done with the help of the *Mantroddhāra Vidhi* (methodology of mantras) mentioned in the tantric texts. In the current article an analysis of *Mantroddhāra Vidhi* of some mantras such as *Cakrasaṁvara, Vajrabhairava, Heruka* and *Hevajra* have been analysed and at the same time formulation of mantras through this procedure has been presented.

Concept of Diamond Body in the Highest Yoga Tantra *73-84*

In the Buddhist Tantric practice there are two stages viz., the generation and the completion. The climax of the *sādhanā* is the stage of the completion. In this article, the *Vajradeha* (Diamond body), the basis for the *sādhanā* of the stage of completion and necessary essence by which the *sādhanā* is completed has been discussed. The basic essence of the stage of completion such as Bodhi mind, Emptiness, Compassion, Channels (left, right and central Channel), wind and drop etc. have been explained.

Sources of Rare Texts *85-111*

Under this title in the 29th issue of *Dhiḥ*, information was given on 91 important hand-written manuscripts. In the present issue, information about rest of 75 hand-written mss. being given.

Sources of Rare Texts : Appendix *112-134*

Under this title, in the first eight issues information of about 271 important hand-written tantric manuscripts preserved in the collections in

inland & abroad had been given, published under the title of *Durlabha Granthon Kī Ādhāra Sāmagrī* Part-I. Subsequently, source materials of *Dhiḥ* from Vol. 9th to 14th had already been presented as a varied appendix in the 15th issue. Materials of *Dhiḥ* from Vol. 9 to 21 in which 1148 hand-written manuscripts in original had been published under the title of *Durlabha Granthon Kī Ādhāra Sāmagrī* Part-II. In the present issue alphabetical order of texts & authors of the source materials published in *Dhīḥ* nos. 16-29 are being given, so that, materials can be easily available to the researches.

Rise of Vajrayāna According to the Oral Tradition *135-146*

In *Dhīḥ* issue 13 under the title of the rise of *Vajrayāna*, a brief introduction have been given : 1. Intuition tradition 2. Sign tradition & 3. Oral tradition. In the present issue, a general information of the rise of *Vajrayāna* according to the tradition of oral is being given.

Sanskrit Restoration of Suhṛllekha and Vyaktapadā Commentary *147-156*

In this article Sanskrit restoration of *suhṛllekha* of ācārya Nāgārjuna and its commentary *Vyaktapadā* by ācārya Mahāmati along with, readings of different versions, importance of the text, distinguishing interpretive and definitive of Buddha's three turning wheel of Dharma, subject of the text, philosophy of ācārya and his spiritual friend Gotamīputra have been briefly explained.

Authenticity of Mahāyānasūtras as Buddhavacana *157-164*

Both the *Mahāyāna & Hīnayāna* vehicles are actually teachings of Buddha. Buddha has given teachings on them in his three fold turning wheel of Dharma. Still, the followers of *Sthavira* do not accept *Mahāyānasūtras* as a teaching of Buddha. In this article an attempt has been made to prove with example the above mentioned as *Buddhavacana* through *Mahāyānasūtras* to eliminate this misunderstanding.

Glossary of Buddhist technical terms : Appendix *165-192*

In the present issue, for the convenience of the researchers, technical terms published in 19th, 25th and 29th issues have been collected, incorporated in alphabetical form and are being presented. At the same time a separate index of intermediary technical terms occuring in explanation of those words are also being given.

In the above issues materials have been collected from *Laghukālacakratantra Ṭīkā Vimalprabhā* Part (III) of *Kalki Śrīpuṇḍarīka, Yoginīsañcāratantra Nibandha* of Tathāgatarakṣita, commentary of Alakakalaśa and Caryāmelāpakapradīpa of Āryadeva etc.

Dhīḥ : A Lion's Vision *193-210*

An alphabetical order of articles and their authors of the source materials published in from *Dhīḥ* 1 to 15 had already been given in the 15th issue. In this issue alphabetical order of articles and authors of entire materials published from issues 16 to 30 are being presented. At the same time an index of entire collected materials of rare texts from *Dhīḥ* 16 to 30 also being given, so that research materials are easily accessible to the researchers.

Kurukullākalpa *211-250*

In the present issue of *Dhīḥ, Kurukullākalpa* is being presented. This is edited with the help of six Sanskrit MSS. along with Tibetan translation. There are some differences in the composition of *Kalpa*s of this text in Sanskrit and Tibetan as well as there are minor difference in the readings also. This is an important text of *Āryatāra*'s *Kalpa* category.

•

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

List of books published under Rare Buddhist Texts Series

1. Guhyādi-Aṣṭasiddhi Saṁgraha (1988) : Rs. 115 Hb, 90 Pb.
2. Jñānodaya Tantram (1988) : Rs. 15Pb.
3. Durlabha Grantha Paricaya Vol. I (1990) : Rs. 55Hb.
4. Durlabha Grantho kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb.
5. Bauddha Tantra Kosha, Vol. I (1990) : Rs. 45Hb, Rs. 40Pb.
6. Lupta Bauddha Vacana Saṁgrah, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb, Rs. 30Pb.
7. Vasantatilaka of Kṛṣṇapāda with Auto-commentary. (1990) : Rs. 95Hb, Rs. 70Pb.
8. Ḍākinījālasaṁvararahasyam (1990) : Rs. 15Pb.
9. Krisṇayamāri Tantra with Ratnāvalīpañjikā of Kumaracandra (1992) : Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
10. Mahāmāyā Tantra with Gunavatiṭīkā of Ratnākaraśānti (1992) : Rs. 70Hb, Rs. 50Pb.
11. Abhisamayamañjarī of Śubhākaragupta (1993) : Rs. 35Pb.
12. Vimalaprabhāṭīkā, Vol. IInd, Rs. 110Hb, Rs. 75Pb.
13. Vimalaprabhāṭīkā, Vol. IIIrd, Rs. 110Hb, Rs. 70Pb.
14. Bauddha Tantra Kosha, Vol. II (1997) : Rs. 100Hb, Rs. 85Pb.
15. Sūtratantrodbhava katipaya Dharaṇīmantra (1997) : Rs. 75Hb, Rs. 55Pb.
16. Adhyātmasāraśatakam (1997) : Rs. 40Pb.

17. Durlabha Bauddha Grantha Paricaya, Vol II (1997) : Rs. 150Hb, Rs. 125Pb.
18. Durlabha Grantho kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. II (1997) Rs. 180Hb, Rs. 150Pb.
19. Bauddha Laghu Grantha Saṁgraha (1997) : Rs. 110Hb, Rs. 80Pb.
20. Siddhaikavīramahātantram (1998) : Rs. 90Hb, Rs. 60Pb.
21. Yoginīsañcāratantram with Ṭīkā (1998) : Rs. 170Hb, Rs. 140Pb.
22. Caryāmelapakapradīpam of Āryadeva (2000) Rs. 160Hb, Rs. 110Pb.
23. Tattvajñānasaṁsiddhi with Commentary : (2000) Rs. 135 Hb, Rs. 100Pb.
24. Sampādana Ke Siddhānta Aur Upādana : (Collection of Articles) (1990) Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
25. Bhāratīya Tantraśāstra (Proceedings of Workshop) (1995) : Rs. 380Hb, 220Pb.
26 ***Dhīḥ:*** Back issues of the journal are also available.

Complete set (Vol. I to XXIX): Total Rs. 1804.00.

●●●